गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती
का
आलोचनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद यूनिवर्सिटी को डो० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धाता

रामचन्द्र शुक्ल

निर्देशक

डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय

(प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी)

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद

१९९२

प्राक्कथन

प्रत्येक कार्य की फलश्रुति में उसके अथ से लेकर इति तक का अपना एक इतिवृत्त अवश्य हुआ करता है । अनुसन्धाता का प्रस्तुत शोध कार्य भी इस कथ्य का अपवाद नहीं। प्रस्तुत शोध के इतिवृत्त में नाट्यशास्त्र की पंचकार्यावस्थाएँ - आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम स्वतः समाहित हैं जिनके अनुक्रम में फलागम के रूप में यह प्राक्कथन प्रवृत्त हो रहा है ।

प्राक्तन जन्म के संस्कारों एवं विद्याविलासी पारिवारिक परिवेश के फलस्वरूप अनुसन्धाता के चित्ताकाश में ही विद्यानुराग का बीज वपित हो गया, जो कालक्रमानुसार पारिवारिक, सामाजिक एवं विद्यार्थी परिवेश से अपना जीवन- रस लेकर ऊर्ध्वमुखी विकासधारा की ओर उत्तरोत्तर विकसित होता रहा । विश्व- साहित्य में भारतीय साहित्य पुनश्च भारतीय साहित्य में संस्कृत साहित्य का चुम्बकीय आकर्षण अनुसन्धाता के मनोलौह को क्रमशः अपनी ओर आकर्षित करता रहा जिसके फलस्वरूप स्नातक कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् स्नातकोत्तर कक्षा में अपने अध्ययन का विषय संस्कृत- साहित्य को ही बनाया । स्नातकोत्तर कक्षा के अध्ययन काल में संस्कृत - साहित्य के पल्लवग्राही अनुशीलन में दो वर्ष का समय कैसे बीत गया कुछ पता न चला; किन्तु अध्ययन- पिपासु अनुसन्धाता के मन को तुष्टि कहाँ ? साहित्यिक अध्ययन के अग्रिम चरण में अनुसन्धान ही एक ऐसा विकल्प रहा जिसमें मन को परितोष प्राप्त करने की आशा दृग्गोचर हुई ।

इस प्रकार हम देखते है कि शास्त्रीय मीमांसा के क्षेत्र में अनिबद्ध काव्य की पर्याप्त विवेचना हुई है। इसके स्वरूप-निर्धारण में समानता होते हुए भी भेदों की दृष्टि से पर्याप्त मतभेद है। आचार्य दण्डी जहाँ इसके चार ही भेद मानते हैं वहीं अग्निपुराणकार एवं ध्वन्यालोककार इसके छ: भेदों को स्वीकार करते हैं। अन्त में आचार्य हेमचन्द्र आगे चलकर इसे नौ भागों में विभक्त करते हुए कहते हैं कि यहाँ तो केवल दिग्दर्शन के लिए यह भेद प्रदर्शित किया गया है; वैसे तो इसके विभिन्न स्वरूपों के कारण इनकी गणना असम्भव है।[1]

मुक्तक काव्यों के उपर्युक्त स्वरूप - विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य गोवर्धनकृत आर्यासप्तशती व्रज्या पद्धति में रचित कोश श्रेणी का मुक्तक काव्य है।[2]

---

1. " एवमनन्तोऽनिबद्धगण: स आदिग्रहणेन गृह्यते ।"

– काव्यानुशासन 8/13 पर वृत्ति

2. " अन्योन्यानपेक्षक: , परस्परापेक्षानिरपेक्षक: श्लोकसमूहस्तु रत्नसदृशश्लोककदम्बधारणात् कोश:। व्रज्याक्रमेण अकारादिहकारान्ताक्षरश्लोकसंघातक्रमेण रचित: एव स कोश: अतिमनोरमा स्यात्। तथा च व्रज्याघटित: एक: प्रकारस्तदतिरिक्तो द्वितीय: इति द्विविध: कोश:। तत्राद्यस्योदाहरणम् आर्यासप्तशत्यादय: । द्वितीयस्य सुभाषितावलिप्रभृतय: इति।।"

– साहित्यदर्पण 6/329 पर लक्ष्मीटीका

साहित्यिक अभिनिवेश होने के कारण संस्कृत- साहित्य के किसी ऐसे महत्वपूर्ण किन्तु सर्वथा नवीन विषय पर शोधकार्य करनें की इच्छा जागृत हुई जिसके माध्यम से विद्वज्जनों का स्नेहपात्र बना जा सके। इस मनोभाव को लेकर जब मैंने गुरुवर प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय (संस्कृत विभाग इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) से निवेदन किया तो उन्होंने मेरे मनोनुकूल शोध- विषय के प्रसंग में अनेकों शोध - विषयों की चर्चा की जिनमें मेरी आन्तरिक आसक्ति प्रस्तुत शोध विषय" गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती का आलोचनात्मक अध्ययन " पर अधिक रमने लगी ; तथा बुद्धि एवं हृदय दोनों ने एक साथ मिलकर उक्त विषय पर शोध- कार्य करने की सहमति दे दी ।

जहाँ तक प्रस्तुत शोध के औचित्य का प्रश्न है तो वह भी बहुत कुछ स्पष्ट है। भारतीय साहित्य की सप्तशती परम्परा में प्राकृत भाषा में रचित " गाहासत्तसई" का अपना ऐतिहासिक महत्व है जहाँ से सप्तशती परम्परा का उज्ज्वल भविष्य दृग्गोचर होता है । इसी के अनुकरण पर विभिन्न भारतीय भाषा के साहित्य में सप्तशती परम्परा का उदय हुआ। इसी श्रृंखला में संस्कृत- साहित्य में भी सप्तशती परम्परा की स्थापना करने का विभिन्न रचनाधर्मियों ने प्रयास किया किन्तु इनमें सर्वप्रथम ऐतिहासिक सफलता गोवर्धनाचार्य को ही उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर दी जा सकती है। अद्यतन उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार गोवर्धनाचार्यकृत" आर्यासप्तशती" ही ऐसी रचना है जहाँ से संस्कृत- साहित्य में सप्तशती परम्परा का उदय होता है। संस्कृत साहित्य की सप्तशती परम्परा में " आर्यासप्तशती" प्रथम प्रयोग होनें के कारण स्वयं अनुसन्धान का विषय बन जाती है । शोधपरक समीक्षा के दृष्टिकोण से उसके

अध्ययन की प्रासंगिकता बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है । कहना न होगा गाoसo के अनुकरण पर ही " आर्यासप्तशती" की रचना हुई है । संस्कृत में ऐसी नवीन विधा में सफलतापूर्वक सर्वप्रथम रचना करना एक नया प्रयोग होनें के कारण टेढ़ी खीर है । यही नहीं इस तथ्य को आर्यासप्तशतीकार स्वयं स्वीकार करते हुए लिखते हैं --

वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ।। [1]

यद्यपि गोवर्धनाचार्य ने " आर्यासप्तशती" की रचना" गाहासत्तसई" के अनुकरण पर किया किन्तु यह अनुकरण विशेष रूप से सप्तशती विधा, श्रृंगार रस एवं वृत्त - विधान तक ही परिसीमित है। इसके अतिरिक्त रूप- विधान, बिम्बविधान, कल्पनाविधान, अलंकार विधान एवं व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से " गाहासत्तसई" की अपेक्षा " आर्यासप्तशती" की अपनी विशिष्ट पहचान है । तभी तो"आर्यासप्तशती"की पौरस्त्य[2] एवं पाश्चात्य[3] विद्वानों नें मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है ।

1- आo सoग्रo पृo 52

2- श्रृंगारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन स्पर्धी कोऽपि न विश्रुत: ।
--- जयदेवकृत गीतगोविन्द

3- पाश्चात्य विद्वान विन्टरनित्ज ने आर्यासप्तशतीकार की इस प्रकार समीक्षा की है ---

See Next Page-

यही नहीं परवर्ती भारतीय साहित्य पर प्रभाव की दृष्टि से भी इसका महत्व कुछ कम नहीं । हिन्दी के रीतिकालीन सभी कवियों ने किसी न किसी रूप में "आर्यासप्तशती" को अपना उपजीव्य ग्रन्थ स्वीकार किये हैं । "गाहासत्तसई" पर डॉ० परमानन्द शास्त्री ⸨संस्कृत विभाग⸩ अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ ⸩ जैसे अनेक मानक शोध प्रबन्ध लिखे गये; जबकि उसके समकक्षी "आर्यासप्तशती" जैसे महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थ पर आज तक कोई भी मानक शोध प्रबन्ध नहीं लिखा गया जो कि साहित्यिक समीक्षा जगत के लिए नितरां अपेक्षित एवं उपयोगी कार्य रहा है । इन्हीं चिर अपेक्षित अपेक्षाओं की पूर्ति की दिशा में अनुसन्धाता की प्रवृत्ति हुई जो कि स्वाभाविक ही है। यदि अनुसन्धाता के इस कार्य से विद्वज्जनों को कुछ भी परितोष उपलब्ध हुआ तो वहीं अनुसन्धाता की सफलता का मानदण्ड होगा ।

जहाँ तक प्रस्तुत शोध के परिप्रेक्ष्य में किसी को धन्यवाद- ज्ञापन का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम शोध - विषय के निर्देशक पाश्चात्य एवं पौरस्त्य मनीषा के मानक संगम पूज्यपाद गुरूवर प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय

" Infact his task was to write in sanskrit a work that could throw into dark the fame of Halas Sattasai by composing 700 stanzas in the Arya metre with erotic themes, that are related in no way with one another and have been arranged by him in an alphabetic order(according to the initial letters). His task might have been more difficult than that of Hala.- History of Indian Literature P.134-135.

﴾ संस्कृत - विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी इलाहाबाद ﴿ के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं उत्साहवर्धक प्रेरणाओं का अत्यन्त ऋणी हूँ । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत- विभाग के पूज्य सम्पूर्ण गुरुजनों के प्रति हार्दिक प्रणाम करता हूँ ; जिनकी कृपा से यह शोध - प्रबन्ध पूर्ण हो सका है । प्रो0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल ﴾ भू0 पू0 विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद ﴿ का हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ; जिन्होंनें अपनें विद्वत्तापूर्ण उपदेशों द्वारा समय- समय पर अनुसन्धान के प्रति सचेतना प्रदान की है ।

वैदिक संस्कृत एवं ज्योतिष के मानक पण्डित पूज्य चरण पिता पं0 पारस नाथ शुक्ल को हार्दिक प्रणाम, जिनके आशीर्वाद एवं वात्सल्य रस से अनुसन्धाता को अपरिमित तृप्ति मिलती रही है । मेरे शोध- प्रबन्ध में ज्योतिष सम्बन्धी एवं पौराणिक ज्ञान में पूज्य पिताजी का ही योगदान रहा है । ऐसे पूज्य पिता एवं ममतामयी माँ के वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना तो उनके वात्सल्य का अवमूल्यन ही होगा । अपने अग्रज श्री सुखसागर शुक्ल ﴾ पुलिस निरीक्षक उ0 प्र0﴿ के प्रति सहज ही आभारी हूँ जिन्होंने अनुसन्धाता को कभी अर्थदारिद्र्य का अनुभव नहीं होने दिया तथा समय - समय पर भविष्य के प्रति उत्साहवर्धन किया है । स्नेहपात्र अनुजों एवं प्रीतिपात्र धर्मपत्नी के यथोचित सहयोग का सहज आ- भारी हूँ जिससे शोधकार्य की पूर्णता में शीघ्रता हुई । स्नेहिल अनुजों में विशेष रूप से चि0 लाल चन्द्र शुक्ल ﴾ एम0एस0सी0- भौतिक -विज्ञान इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद ﴿ के प्रति हार्दिक साधुवाद; जिन्होंनें

टंकण कार्य की अशुद्धियों के संशोधन में विशेष सहयोग दिया है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के टंकण कर्ता श्री विजय शंकर ओझा (केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद) को यथाशक्ति शुद्ध स्वच्छ एवं सुन्दर टंकण के लिए धन्यवाद देना नैतिक कर्तव्य समझता हूं । अन्त में उन सबका आभारी हूं कि जिन्होंने मेरे शोध कार्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग दिया है ।

(विनयावनत)

रा. च. शुक्ल

(राम चन्द्र शुक्ल)

" शोधच्छात्र "

संस्कृत विभाग ,

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,

इलाहाबाद ।

आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा,

संवत् 2049

विषय-सूची

प्राक्कथन

संकेत सूची

0 0 0 0 0
0 0 0
0

संकेत सूची

आर्यासप्तशती	=	आ० स०
ग्रन्थारम्भ प्रज्या	=	ग्र० प्र०
काव्यप्रकाश:	=	का० प्र०
सूत्र	=	सू०
साहित्यदर्पण	=	सा०द०
काव्यानुशासन	=	काव्यानु०
ध्वन्यालोक	=	ध्व०लो०
गाथासप्तशती	=	गाथा०
रसगंगाधर	=	र०गं०
नाट्यशास्त्र	=	ना०शा०
हलायुधकोष	=	ह०को०

0 0 0 0 0
0 0 0
0
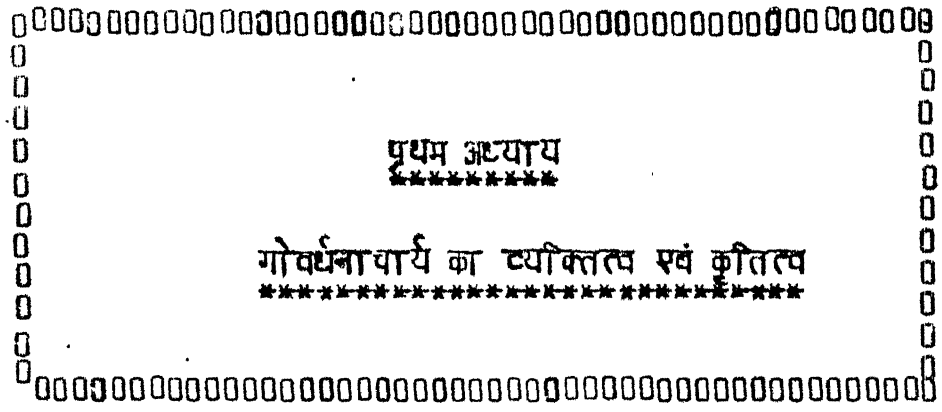
प्रथम अध्याय

गोवर्धनाचार्य का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गोवर्धनाचार्य का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

काल-निर्धारण

संस्कृत महाकवियों की एक अनूठी परम्परा रही है कि वे अपनी कृतियों में आत्मपरिचय के प्रति सर्वथा उदासीन रहे हैं। उनका आत्मपरिचय के प्रति उदासीनता ही उनके कालनिर्धारण; जीवन-चरित, पारिवारिक-परिवेश, देशगत एवं कालगत परिस्थितियों इत्यादि में कठिनाई पैदा करती है। आज कालिदासादि महाकवियों का सही-सही काल-निर्धारण न हो सकने का यही कारण सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। दुर्भाग्यवश "आर्या-सप्तशतीकार" भी इस परम्परा के पोषक थे। अतएव इनका रचनाकाल एवं सामाजिक परि-वेशादि भलीभाँति प्रमाण पुष्ट नहीं हो पाया है। फिर भी संस्कृत के समीक्षकों ने कवि के काल-निर्णय एवं व्यक्तित्व विषयक परिज्ञान हेतु दो प्रकार के साक्ष्यों का आश्रय लिया है; जिन्हें क्रमश: अन्तरङ्ग प्रमाण तथा बहिरंग प्रमाण के रूप में जाना जाता है। इन द्विविध साक्ष्यों के माध्यम से आधुनिक समीक्षकों ने आचार्य गोवर्धन का समय निर्धारित किया है। सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि अन्त: साक्ष्य में किन-किन तथ्यों की विवेचना की जाती है। अन्त: साक्ष्य के अन्तर्गत कवि की कृतिगत उन सूचनाओं का संग्रह किया जाता है जिनसे उसके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्राय: कवि अपनी कृति में यत्र-तत्र आत्मयुगीन या पूर्ववर्ती कवियों या किसी घटना विशेष का उल्लेख कर देते हैं। इसप्रकार

की सूचनाओं को ही अन्त: प्रमाण का आधार माना जाता है। इसके विपरीत बाह्य प्रमाण के अन्तर्गत उन तथ्यों का संग्रह किया जाता है जो कवि के युग की अन्यकृतियों में उल्लिखित होते हैं।

अस्तु; आचार्य गोवर्धन के काल-निर्णय हेतु उपर्युक्त द्विविध प्रमाणों का आश्रय लेना श्रेयष्कर होगा। सर्वप्रथम अन्तरङ्ग प्रमाण को स्पष्ट करना है-

अन्त: प्रमाण-

गोवर्धनाचार्य ने ग्रन्थारम्भ व्रज्या में संस्कृतवाङ्मय के अनेक महाकवियों की परम श्रद्धा के साथ स्तुति की है। इसक्रम में सर्वप्रथम आदिकवि वाल्मीकि[1]; व्यास[2], बृहत्कथाकार गुणाढ्य[3], महाकवि कालिदास[4], महाकवि भवभूति[5], महाकवि बाणभट्ट[6] की स्तुति की है।

---

1. विहितघनालंकारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम् ।
   शक्रायुधमिव वक्रं वल्मीकभुवं कविं नौमि ।। आ0स0 30 ।।

2. व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
   भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ।। आ0 स0 31 ।।

3. अतिदीर्घजीविदोषाद्व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त ।
   कैर्नोच्यते गुणाढ्य: स एव जन्मान्तरापन्न: ।। आ0 स0 33 ।।

4. साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
   शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ति: ।। आ0 स0 35 ।।

5. भवभूते: सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति ।
   एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।। आ0 स0 36 ।।

6. जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
   प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ।। आ0 स0 37 ।।

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त सभी रचनाकारों में से महाकवि बाणभट्ट एवं महाकवि भवभूति काल की दृष्टि से सर्वथा अर्वाचीन माने जाते हैं। अतएव गोवर्धनाचार्य के उपर्युक्त उल्लेखों से यह तथ्य निकलता है कि इनका रचनाकाल निःसन्देह सातवीं शताब्दी के अनन्तर ही रहा होगा।

गोवर्धनाचार्य ने कवियों की स्तुतियों के साथ ही साथ अपने ग्रन्थ की एक आर्या में प्रबन्ध की चौंसठ कलाओं तथा चन्द्रमा की सोलह कलाओं से युक्त "सेनकुलतिलकभूपति"[1] का उल्लेख किया है। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह "सेनकुलतिलकभूपति" कौन था ? जैसा कि सर्वविदित है कि संस्कृत वाङ्मय के अनेक महाकवियों की काव्यसर्जना राज्याश्रय में ही पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई है। सम्भवतः गोवर्धनाचार्य ने अपने ग्रन्थ की रचना इसी "सेनकुलतिलकभूपति" के राज्याश्रय में की हो। किन्तु इसकी पुष्टि हेतु बहिरङ्ग प्रमाण की आवश्यकता अपेक्षित है।

---

1. सकलकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदबन्धोश्च ।
सेनकुलतिलकभूपतिरेको राकाप्रदोषश्च ॥

आ० स० 39

बाह्य प्रमाण -

"आर्यासप्तशती" के टीकाकार श्री सचल मिश्र[1] एवं श्री जीवानन्द विद्यासागर[2] के अनुसार "सेनकुलतिलक" से कवि ने यहाँ सेनकुल के प्रवर्तक एवं "सेतुबन्ध" काव्य के कर्ता काश्मीर महराज प्रवरसेन को ग्रहण किया है। "आर्यासप्तशती" की एक अन्य टीका में भी इसी मत की पुष्टि की गयी है।[3]

- -

1. " सेनकुलतिलकभूपतिः - सेननामा स्ववंशेष्वादिराजः तत्कुलतिलकः तत्कुल-सम्भूतसकलराजश्रेष्ठः, सेतुनामग्रन्थकर्ता, कविसेव्यः प्रवरसेननामा नरवरः स्वदेशीयोभूपति-रित्यर्थः।"

- आ० स० पर "रसप्रदीपिका" टीका ।

2. " एकः केवलः सेनकुलतिलकभूपतिः प्रवरसेनाख्यः नृपतिरित्यर्थः।"

- आ० स० जीवानन्द विद्यासागर की

3. आ० स०पर अनन्त पण्डित की " व्यङ्ग्यार्थ दीपन" नाम्नी संस्कृत टीका ।

परन्तु आधुनिक समीक्षकों ने उपर्युक्त टीकाकारों की इस मान्यता को खण्डन करते हुए यह मान्यता स्थापित की है कि कवि ने यहाँ "सेनकुलतिलकभूपति" से बंगाल नरेश लक्ष्मणसेन का उल्लेख किया है। एम0 कृष्णामाचारी ने लक्ष्मणसेन को कला के पण्डित के रूप में वर्णित किया है।[1] इनकी इस मान्यता का आधार "गया" का वह अभिलेख है जहाँ आचार्य गोवर्धन, शरण, जयदेव, उमापति एवं कविराज को महाराज लक्ष्मणसेन की समिति का रत्न कहा गया है।[2]

आधुनिक समालोचकों ने उपर्युक्त "गया अभिलेख" को ही ऐतिहासिक प्रमाण मानते हुए आचार्य गोवर्धन को लक्ष्मणसेन से सम्बद्ध माना है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री सी0वी0 वैद्य महोदय ने इसी मान्यता की पुष्टि की है।[3] श्री महामहोपाध्याय डॉ0गंगानाथ झा महोदय ने भी इसी मान्यता की पुष्टि की है।[4]

---

1. He refers to Lakshmansena in this poen as a master of Arts.
   - History of Classical Lit. Page.346
2. "गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
   कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ।।" हि0आ0 क्ला0सं0 लि0 पृ0338
3. "Noted Sankrit Pandits whose works still Survive, floating on the surface of the ocean of time, sat in his coart such as Halayudh, Umapatidhar, Sarama, Goverdhanacharya, Dhoyi, Jaydeva and Sridhardas."
   - History of Mediavval of India.(Vol. 3 Page 234)
4. " As regards the date of the autor, people learned in these matters have admitted the correctness of the popular belief that he was one of the literary gems who adorned the coart of King Lakshmansema of Gaur (Bengal) during the 11 th Century A.D."

"गीतगोविन्द" की कुछ टीकाओं में छः संस्कृत पण्डितों को राजा लक्ष्मणसेन का आश्रित कवि माना है। ये छः पण्डित उमापतिधर, जयदेव,शरन, गोवर्धन,श्रुतिधर एवं धोयी थे।[1] इसी मान्यता की पुष्टि कुछ संस्कृत के समीक्षात्मक ग्रन्थों ने भी की है।[2]

- -

1· §1§ " इति षट्पण्डितास्तस्य राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति रूढिः ।"

– गीतगोविन्द की "रसिकप्रिय" टीका I·4

§11§ Gitgovinda (Nirnayasagar Press edition) Also cf. another comentator who begins his interpretation of the verse with the words.——

इति लक्ष्मणसेनस्य समाजिकान् वर्णयति। = गीत गोविन्दम् "रसमन्जरी"टीका-

2·§1§ श्री के0सी0 शर्मा द्वारा सम्पादित "आर्यासप्तशती" की भूमिका पृष्ठ-1

इस मान्यता की अन्य पुष्टियों के लिए द्रष्टव्य हैं——

§2§ बलदेव उपाध्याय -"संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृष्ठ 344·

§3§ डॉ0 सूर्यकान्त का "संस्कृत स वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास"

' पृष्ठ 344 251

§4§ एवं एम0 कृष्णामाचारी का "हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर"

' पृष्ठ 346

गोवर्धनाचार्य के बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरबार में रहने का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य गीतगोविन्द के लेखक जयदेव ने कवि का नामोल्लेख करके दिया है।[1] जयदेव द्वारा उद्घाटित इस तथ्य से यह मत प्रमाणित हो जाता है कि गोवर्धनाचार्य जयदेव के समकालीन तथा लक्ष्मणसेन के सभापण्डित थे। पं0 द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री महोदय का मत पूर्वमतों की पुष्टि करता है। इनके अनुसार- " ख्यातिलब्ध; श्रृङ्गार के श्रेष्ठ आचार्य गोवर्धन बंगाल नरेश श्री लक्ष्मणसेन (1116 ई0) के सभापण्डित थे।"[2]

पं0 चन्द्रशेखर पाण्डेय के अनुसार- "महाकवि हालकृत गाथासप्तशती के आधार पर गोवर्धनाचार्य ने "आर्यासप्तशती" की रचना किया। यह गोवर्धनाचार्य 12 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में (1116 ई0) बंगाल नरेश लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि थे।"[3] पं0 विश्वेश्वर नाथ महोदय ने भी गोवर्धनाचार्य को लक्ष्मणसेन का समकालीन माना है। इनके अनुसार -"नीलाम्बर के पुत्र आचार्य गोवर्धन लक्ष्मणसेन के समकालीन थे।"[4] उपर्युक्त सभी विद्वानों के मत

---

1. " श्रृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुत: श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापति: ।"

   – गीतगोविन्द 1/4

2. " संस्कृत साहित्य विमर्श: – पृष्ठ 650

3. " संस्कृत साहित्य की रूपरेखा "

4. भारत के प्राचीन राजवंश – पृष्ठ 212

की पुष्टि करते हुए पाश्चात्य विद्वान विन्टरनित्ज महोदय[1] तथा ए0 बी0 कीथ महोदय[2] ने गोवर्धन को जयदेव का समकालीन माना है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत कवि को राजा लक्ष्मणसेन का आश्रित मानते हुए उनका रचनाकाल (700 - 1200 ई0) अपभ्रंश उत्तरकाल का मध्य स्वीकार किया है।[3]

राजा लक्ष्मणसेन के राज्यकाल के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक समीक्षकों ने पर्याप्त मंथन किया है। सी0वी0 वैद्य महोदय ने इनका राज्यकाल 1119 ई0 से 1199 ई0 तक निर्धारित किया है। इसके साथ ही साथ यह मत भी स्थापित किया है कि उन्होंने "लक्ष्मण-वती नाम की अपनी एक नयी राजधानी स्थापित की थी तथा एक नवीन "सवंत्सर"

- -

1. To the 11th Century A.D.belongs also the "Aryasaptsati" Seven hundred Arya Verses of the poet goverdhnacharya.

Hist. of Indi. Lit. page. 134

2. संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृष्ठ 252-253

3. संस्कृत- काव्यधारा ।

का भी प्रवर्तन किया था ।[1] ध्यातव्य है कि मध्यकालीन इतिहासकारों ने बल्लभसेन (लगभग 1158-1178 ई0) के उत्तराधिकारी के रूप में महाराजा लक्ष्मणसेन को स्वीकार किया है। इतिहासविदों ने इनका शासनकाल (लगभग 1178 ई0 से 1205 ई0) स्वीकार किया है । लक्ष्मणसेन साठ वर्ष की अवस्था में शासक बना था। इसने जयचन्द्र के विरुद्ध आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी। इसने बनारस तथा इलाहाबाद तक सैनिक अभियान किया था । इसके शासनकाल के अन्तिम समय में अनेक सामंतों ने विद्रोह कर दिया। यह इन विद्रोहों को दबाने में सर्वथा असमर्थ रहा। 1202 ई0 में इख्तयारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने इसकी राजधानी" लखनौती" पर आक्रमण कर दिया। लक्ष्मणसेन बिना युद्ध किये ही वहाँ से भाग गया और पूर्वी बंगाल में 1205 ई0तक शासन करता रहा।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त बहिरंग तथा अन्तरङ्ग प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य गोवर्धन लक्ष्मणसेन से ही सम्बद्ध थे; और इन्हीं के दरबार में रहकर "आर्या-सप्तशती" नामक मुक्तक काव्य का सृजन किया। इसप्रकार आचार्य गोवर्धन का रचनाकाल 12 वीं शताब्दी का अन्तिम चरण स्वीकार करना समीचीन लगता है।

- -

1• History of Mediaeval Hindu India. Page-233-234

2• " मध्यकालीन भारत (750-1540 ई0) संपादक हरिश्चन्द्र वर्मा ' पृष्ठ 14-15

पारिवारिक पृष्ठभूमि -

आचार्य गोवर्धन ने पारिवारिक पृष्ठभूमि पर भी ठीक-ठीक उल्लेख नहीं किया है। गोवर्धनाचार्य ने यहाँ पर भी उदासीनता का परिचय दिया है। इनसबके बाद भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने पिता एवं सहोदरों का बड़े सम्मानके साथ नामोल्लेख किया है। इनके अनुसार वह प्रकाण्ड पण्डित "नीलाम्बर" के पुत्र थे।[1] कवि ने अपने दो सहोदरों, जो सम्भवत: शिष्य भी थे, का नामोल्लेख किया है। इन्हीं दोनों भाइयों किंवा शिष्यों ने आर्यासप्तशती को शुद्ध एवं परिष्कृत करके सम्पादित किया था।[2] पिता और इ भाइयों के अलावाँ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अन्य कोई पारिवारिक परिचय नहीं दिया है। हाँ ध्यान देने की बात है कि कवि का नाम तो केवल "गोवर्धन" है; किन्तु इन्हें गोवर्धनाचार्य कहा जाता है। स्पष्ट नहीं होता कि यह "आचार्य" कोई पदवी थी या और कुछ। गोवर्धन ने अपने को स्वयं आचार्य से भी समायोजित किया है। प्राय: संस्कृत के विद्वानों को "आचार्य" कहकर सम्मानित किया जाता है। सम्भवत: गोवर्धन भी इसी "आचार्य" पद से सम्मानित हों। जो भी हो इ उन्होंने स्वयं एक आर्या में अपने को "गोवर्धनाचार्य" कहा है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने ही "आर्यासप्तशती" की रचना की है।[3]

- -

1• " यं गणयन्ति गुरोरनु यस्यास्ते धर्मकर्म सङ्कुचितम् ।
कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलाम्बरं बन्दे ।। आ० स० 38 ।।

2• " उदयनबलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्याम् ।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य ।।" आ० स० 70।

3• " हरिचरणाञ्जलिममलं कविवरहर्षाय बुद्धिमान्सततम् ।
'अकृतार्यासप्तशतीमेतां गोवर्धनाचार्य: ।।" आ० स० 702

कवि का व्युत्पत्तिपक्ष -

संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों के सदृश गोवर्धनाचार्य भी विविध-ज्ञान सम्पन्न थे। काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य के सफल प्रयोग के लिए तीन वस्तुओं को होना अत्यन्त आवश्यक होता है- प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। प्रतिभा तो जन्मान्तरागत संस्कारगत होती है किन्तु व्युत्पत्ति-ज्ञान के लिए लोकज्ञान, स्थावर जंगम वस्तुओं का ज्ञान, विविध शास्त्रों का ज्ञान, छन्दज्ञान, व्याकरण का ज्ञान, अभिधान, कोश, कला, चतुर्वर्ग का ज्ञान, हाथी, घोड़े, खड्ग आदि लक्षण ग्रन्थों का तथा अन्य महाकवियों से सम्बन्धित काव्यों का अध्ययन, इतिहास पुराण आदि का विमर्शन ही व्युत्पत्ति है। अतः काव्य के सुष्ठुप्रयोग के लिए कवि में व्युत्पत्ति नितान्त अपेक्षित है। आचार्य गोवर्धन उपर्युक्त सभी ज्ञानों से सर्वथा पूर्ण थे। कवि की एकमात्र कृति "आर्यासप्तशती" के माध्यम से विदित होता है कि कवि को पौराणिक ज्ञान, ज्योतिष विषयक ज्ञान, नीतिज्ञान, संगीतज्ञान, वनस्पतिज्ञान, पक्षीज्ञान, द्यूतज्ञान, कर्मकाण्ड, रत्नादिक ज्ञान, दार्शनिक ज्ञान, अपराध सम्बन्धी ज्ञान, गर्भज्ञान, ऋतुविषयक ज्ञान, आयुर्वेद के ज्ञान में कवि पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है। कवि के मङ्गलाचरण के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि वह न तो केवल शैव है न ही वैष्णव, न ही शाक्त, न ही स्मार्त अपितु कवि में एक साथ सर्वदेव किं बहुना हिन्दू धर्म के प्रायः सभी देव अपने इष्ट हैं। सर्वप्रथम कवि मङ्गलाचरण के रूप में

श्रद्धाविश्वासरूपिणी शिव-पार्वती की स्तुति करता है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि बहुदेववाद का समर्थक होते हुए भी कवि का झुकाव "शिव" एवं "पार्वती" के प्रति अधिक है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि कवि वन्दना के रूप में प्रारम्भ से 7 श्लोक पर्यन्त भगवान् शिव एवं पार्वती की स्तुति करता है। चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) में कवि "काम" पुरुषार्थ को ही श्रेयस्कर मानता है ; जैसे बिना अर्थ के धर्म संभव नहीं है वैसे ही बिना काम के मोक्ष भी असम्भव है। अतः कवि ने मङ्गलाचरण में भी शक्तियों सहित शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश देवताओं की श्रृङ्गारपरक स्तुति किया है।[2] इसप्रकार

---

1. पाणिग्रहे पुलकितं वपुरैशं भूतिभूषितं जयति ।
   अङ्कुरित इव मनोभूर्यस्मिन्भस्मावशेषोऽपि ।। आ० स० 1 ।।

2. " श्रीकरपिहितं चक्षुः सुखयतु वः पुण्डरीकनयनस्य ।
   जघनमिवेक्षितुमागतमब्जनिभं नाभिसुषिरेण ।। आ० स० 10 ।।

   " अङ्कनिलीनगजाननशङ्काकुलबाहुलेयहृतवसनौ ।
   सस्मितहरकरकलितौ हिमगिरितनयास्तनौ जयतः ।। आ० स० 20 ।।

चण्डी, शेषनाग तथा हयग्रीव आदि देवताओं की भी स्तुति की है।[1] देवताओं की स्तुतियों के साथ- साथ कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की परम श्रद्धा के साथ वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, गुणाढ्य, बाण, भवभूति की प्रशंसा की है।

पौराणिक ज्ञान-

कवि के ज्ञानवैविध्य में सर्वप्रथम पौराणिक ज्ञान अत्यधिक महत्व का है। इसमें कवि ने भगवान् विष्णु के दस अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि के रूप में) का वर्णन किया है जिसमें वह त्रिविक्रम नाम से प्रसिद्ध वामन को विष्णु का अवतार स्वीकार किया है।[2] भगवान् विष्णु के द्वारा नृसिंहावतार के रूप में शत्रु हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके नख-प्रान्त में लगे हुए रक्त का प्रातः

---

1. चण्डीजङ्घाकाण्डः शिरसा चरणस्पृशि प्रिये जयति ।
शङ्करपर्यन्तजितो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥ आ० स० 18 ॥
इसी प्रकार हयग्रीव की स्तुति - आ० स० 15
शेषनाग की स्तुति - आ० स० 17

2. अग्रे लघिमा पश्चान्महतापि पिधीयते नहि महिम्ना ।
वामन इति त्रिविक्रममभिदधति दशावतारविदः ॥

कालीन सूर्य-किरणों के रूप में वर्णन किया है।[1] महाकवि बाणभट्ट ने इसीप्रकार से "कादम्बरी" के प्रारम्भ में माङ्गलिक स्तुति की है।[2] "क" वाराहवतार की चर्चा करते हुए कवि कहता है कि समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी को उद्धार करने के विषय में जब ब्रह्मा और शिव ने भी अपनी असमर्थता प्रकट की तब भगवान् विष्णु ने वराह रूप धारण करके पृथ्वी का उद्धार किया था। इस प्रसंग के माध्यम से कवि यह संकेत करता है कि विपत्ति-ग्रस्त व्यक्तियों का उद्धार कोई विरला व्यक्ति ही कर सकता है सब नहीं।[3] पुराणों में वर्णित समुद्र मन्थन में प्राप्त चौदह रत्नों (लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, पारिजात वृक्ष, वारुणि, धन्वन्तरि, चन्द्रमा, कामधेनु, उच्चैश्रवा अश्व, ऐरावत हाथी, रम्भादि देवाङ्गनाएँ, सुधा, शङ्ख, विष, हरि-धनुष) के मध्य पारिजात वृक्ष का वर्णन अन्योक्ति के

---

1. दीर्घगवाक्षमुखान्तर्निपातिनस्तरणिरश्मय: शोणा: ।
   नृहरिनखा: इव दानववक्ष: प्रविशन्ति सौधतलम् ।।

   – आ0 स0 299

2. जयत्युपेन्द्र: स चकार दूरतो विभित्सया य: क्षणलब्ध लक्ष्यया ।
   दृशैव कोपारुणया रिपोरुर: स्वयं भयाद् भिन्नमिवास्रपाटलम् ।।

   – कादम्बरी 'मङ्गलाचरणम्'

3. " हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरंवपु:"।

   – श्रीमद्भागवत् पुराण सप्त स्कन्ध अ0-1, श्लो040

   विमुखे चतुर्मुखेऽपि श्रितवति चानीशभावमीशेऽपि ।
   मग्नमहीनिस्तारे हरि: परं स्तब्धरोमाभूत ।। आ0 स0 532

माध्यम से किया है।[1] कृष्ण के द्वारा अरिष्टासुर का बध किस प्रकार किया गया था, इसे कवि ने ग्रन्थ की एक आर्या में वर्णित किया है।[2] द्रौपदी के स्वयंवर की चर्चा करते हुए कवि नायक की शिष्टता पर मुग्ध नायिका का अपने सखी से वर्णन मछली की छाया को देखकरके नीचे मुख किये हुए अर्जुन के द्वारा मछली के नेत्र को बाण से भेदना -महाभारत के प्रसंग को उद्धृत करता है।[3] भगवान् विष्णु आषाढ़मास के शुक्लपक्ष की एकादशी तिथि, जिसे पुराणों में "हरिशयनी" एकादशी कहा गया है, को शयन करते है तथा कार्तिक शुक्लपक्ष की एकादशी अर्थात् प्रबोधिनी एकादशी को जागते हैं - इस पौराणिक प्रसंग को कवि लौकिक व्यवहार में किसी वन में परपुरुष के साथ रात्रि बिताकर प्रात: काल सम्भोग जन्य लक्षणों को लज्जा

---

1. आधाय दुग्धकलशे मन्थानं श्रान्तदोर्लता गोपी ।
   अप्राप्तपारिजाता दैवे दोषं निवेशयति ।।

   आ० स० 104

2. किं हसथ किं प्रधावथ किं जनमाहूवयथ बालका विफलम् ।
   तदयं दर्शयति यथाऽरिष्टः कण्ठेऽमुना जगृहे ।।

   आ० स० 174

   (यह कथा श्रीमद्भागवत् पुराण - दशमस्कन्धअध्याय -36 में वर्णित है।)

3. छायामात्रं पश्यन्नधोमुखोऽप्युद्गतेन धैर्येण ।
   तुदति मम हृदयमिषुणा राधाचक्रं किरीटीव ।।

   आ० स० 234

के माध्यम से छिपाती हुई नायिका से कोई अन्य स्त्री अन्योक्ति के माध्यम से कहती है।[1] कवि का ध्यान महाभारत में वर्णित उस कथा की ओर जाता है, जहाँ एकबार देवताओं की भरी सभा में नृत्य करते हुए अप्सराओं में उर्वशी अर्जुन पर मुग्ध हो गयी थी, पर उर्वशी की एक भी कामकला अर्जुन को स्पर्श नहीं कर पायी। अत: उर्वशी के शाप से अर्जुन को एक वर्ष पर्यन्त क्लीव बनना पड़ा था। इसकी चर्चा कवि ने वसन्तऋतु में "काम-वेदना अत्यन्त असह्य होती है"- ऐसा किसी नायक को माध्यम बनाकर कहता है।[2] कवि ने बलराम के द्वारा हल से आकर्षित की जाती हुई, डर से भागी हुई यमुना के कथन को नायक-नायिका के माध्यम से प्रस्तुत किया है।[3] कवि ने महाभारत

1• जागरयित्वा पुरुषं परं वने सर्वतो मुखं हरसि ।
अति शारदनुरूपं तव शीलमिदं जातिशालिन्या: ।।
आ० स० 237

2• तपसा क्लेशित एष प्रौढबलो न खलु फाल्गुनेऽप्यासीत् ।
मधुना प्रमत्तमधुना को मदनं मिहिरमिव सहते ।।
आ० स० 259

3• दर्शितयमुनोच्छ्राये भ्रविभ्रमभाजि वलति तव नयने ।
क्षिप्तहले हलधर इव सर्वं पुरमर्जितं सुतनु ।।
आ० स० 289

में वर्णित उस प्रसंग का ध्यान दिलाया है जिसमें द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित चक्रव्यूह के भेदन में बालक अभिमन्यु सरलता से प्रविष्ट करना तो जानता था किन्तु कठिनाई से भी निकलना नहीं जानता था।[1] इसीक्रम में आगे "विराट के पुत्र उत्तर ने अर्जुन को पाकरके दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतकर गायों को लौटा लिया था- इस श्लिष्ट प्रयोग के माध्यम से उत्तर दिशा सम्बन्धी सूर्य फाल्गुन माह में शीतादि शत्रुओं को जीतकर अपनी किरणों को वापस लौटा लेता है।[2] कवि कृष्ण एवं बाणासुरसम्युद्ध की उसघटना का वर्णन करता है जिसमें बाणासुर का बध करने के लिए तैयार हुए बलदेव जी पर भगवान् शिव ने माहेश्वर ज्वर छोड़ा था। इससे भगवान्, कृष्ण के अतिरिक्त सम्पूर्ण यादवों की सेना संत्रस्त हो गयी थी; उस माहेश्वर ज्वर का विनाश करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने वैष्णव ज्वर की सृष्टि की थी। तब जाकर कहीं बाणासुर पराजित हुआ था।[3] पुनः कवि ने

- -

1. आ० स० 348

2. पश्योत्तरस्तनुदरी फाल्गुनमासाद्य निर्जितविपक्षः ।
   वैराटिरिव पतङ्ग प्रत्यानयनं करोति गवाम् ।।

   - आ० स० 358

3. पिशुनः खलु सुजनानां खलमेव पुरो विधाय जेतव्यः ।
   कृत्वा ज्वरमात्मीयं जिगाय बाणं रणे विष्णुः ।।

   - आ० स० 396

§ यह कथा "ब्रह्मवैवर्त पुराण" श्रीकृष्णजन्म खण्ड अध्याय - 120 में वर्णित है ।§

उस पौराणिक कथा की ओर इंगित करता है जिसमें जालन्धर दैत्य की पत्नी सती वृन्दा का छल से सतीत्व भंग करने वाले भगवान् विष्णु के द्वारा शापित वृन्दा का तुलसी के रूप में तथा वृन्दा के द्वारा शापित भगवान् विष्णु को शालिग्राम शिला के ऊपर तुलसी दल का चढ़ाया जाना वर्णित है।[1] कवि ने पुराण में वर्णित कालियनाग के नाथे जाने वाले प्रसंग का वर्णन कुपित नायिका को नायक की सखी के द्वारा अन्योक्ति के माध्यम से समझाती हुई कह रही है कि भगवान् कृष्ण ने कालियनाग को नाथकर यमुना से हटाकर समुद्र में स्थान दिया और सुदर्शन चक्र के चिह्न से अंकित किया ताकि गरुणा को कालियनाग से भय न रहे।[2] इसी प्रकार कवि ने एकलव्य की गुरुभक्ति का वर्णन किया है। जिसमें एकलव्य ~~की गुरुभक्ति का~~ गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर अनन्य निष्ठा से धनुर्विद्या का अभ्यास किया था तथा उसमें नैपुण्य प्राप्त किया था।[3] अन्त में वर्णित विनता पुत्र अरुण का बिना पैर के उत्पन्न होने वाली घटना का वर्णन करता है।

---

1. मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम् ।
   यत्तव पदमसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेद: ।।
   - आ० स० 433

   § यह कथा "विष्णु-पुराण " में वर्णित है। §
2. शिरसि चरणप्रहारं प्रदाय नि: सार्यतां स ते तदपि ।
   चक्राङ्कितो भुजङ्ग: कालिय इव सुमुखि कालिन्द्या: ।।
   - आ० स० 570

   § यह कथा "श्रीमद्भागवत् पुराण" दशम स्कन्ध-अ० 17 में वर्णित है। §
3. आ० स० 664 ।

कथा कुछ इसप्रकार है- "कश्यप की दूसरी पत्नी विनता ने जब गर्भ से दो अण्डे उत्पन्न किये, उनमें प्रथम अण्डे को अपरिपक्वावस्था में ही फोड़ दिया था जिससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह बिना पैर का ही था- आगेचलकर यही पुत्र "अरुण" नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही अरुण सूर्य का सारथी भी है।[1] इस प्रकार कवि के पौराणिक ज्ञानों से स्पष्ट है कि कवि की पौराणिक कथानकों में अत्यधिक रुचि थी।

ज्योतिष विषयक ज्ञान -

पौराणिक ज्ञान के साथ- साथ आचार्य गोवर्धन को ज्योतिष के तीनों अंगों (फलित, सिद्धान्त, एवं संहिता ज्योतिष) का विधिवत् ज्ञान था । यथा संहिता के वर्णन प्रसंग में "चन्द्रमा स्वत: अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं है अपितु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है।[2] यह वर्णन वाराहमिहिर न अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया है कि जिस तरह दर्पण पर गिरे हुए सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब से घर के अन्दर का अन्धकार

- -

1. सम्यगनिष्पन्न: सन्योऽर्थस्त्वरया स्वयं स्फुटीक्रियते ।
   स व्यङ्ग एवं भवति प्रथमो विनतातनूज इव ।।
   - आ० स० 667

2. अन्तर्भूतो निवसति जडे जड: शिशिरमहसि हरिण इव ।
   अण्डे (शमीव तपने स तु प्रविष्टोऽपि नि:सरति।।
   - आ० स० 66

   इसी प्रकार आ० स० 279 भी ।

नष्ट होता है उसी तरह जलपिण्डात्मक चन्द्रमा के ऊपर गिरी हुई सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब से रात्रि-सम्बन्धी अन्धकार नष्ट होता है। सूर्य के अध: प्रदेश को छोड़ते हुए चन्द्रमा का शुक्ल भिन्न-भिन्न तरह नीचे की तरफ सरकता है उसी तरह चन्द्रमा का उदित अधोभाग सूर्यवश क्रम से प्रकाशित होता है।[1] यह वर्णन "सूर्यसिद्धान्त" नामक ग्रन्थ में तथा आचार्य ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में भी इसी रूप में वर्णित है।[2] आचार्य सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन में संचरण करते समय मन्दगति एवं तीव्रगति का वर्णन करता है।[3] दक्षिणायन सूर्य के समय रातें बड़ी एवं दिन छोटे होते हैं, जबकि उत्तरायण में रातें छोटी एवं दिन बड़े होते हैं। पुन: कवि भद्रायुक्ता पौर्णमासी के ज्ञान की बात कहता है।[4]

- -

1. " बृहत्संहिता- चन्द्रचाराध्यायश्लोक - 2-3 ।

2. (1) तेजसां गोलक: सूर्यो ग्रहर्क्षाण्यम्बुगोलक: ।
प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मि विदीपिता: ।।
- सूर्यसिद्धान्त

(2) रविदृष्टं शितमर्द्धं कृष्णमदृष्टं यथातपस्थस्य ।
कुम्भस्य तथा सन्नं खेरदस्थस्यचन्द्रस्य ।।
- ब्रह्मसिद्धान्त

3. आसाद्य दक्षिणां दिशमोपिलम्ब त्यजति योत्तरां तरणि: ।
पुरुषं हरन्ति कान्ता: प्रायेण हि दक्षिणा एव ।। आ0 स0 83

4. ~~मुहूर्तगणपति प्रकरण — श्लोक — 20~~
आ० स० 301

भद्रा शब्द यद्यपि कल्याणकारी माना जाता है। परन्तु ज्योतिष की दृष्टि से तिथि के पूर्वापर विशेष अंश में पड़ने पर इसे भद्रा संज्ञा प्राप्त है जो कि अमंगल सूचक है। इसमें यात्रादि वर्जित है। "भद्रा" की उत्पत्ति के विषय में आचार्य श्रीपति ने कहा है कि "जिस समय देवासुर संग्राम में देवताओं की पराजय को देखकर भगवान् शिव को क्रोध उत्पन्न हो गया और उनकी दृष्टि हृदय पर पड़ जाने से एक शक्ति उत्पन्न हो गयी जिसका स्वरूप गदहे के समान मुखवाली सात भुजावाली सिंह के समान गर्दन से युक्त कृषोदरि प्रेत पर सवार होकर ~~देवताओं~~ दैत्यों का संहार करने लगी, उससे प्रसन्न होकर देवताओं ने इसे अपने कानों के समीप में स्थापित किया। अतः इसे "करण" या "भद्रा" कहा जाने लगा। "मुहूर्तचिन्तामणि" के अनुसार शुक्लपक्ष की अष्टमी को पूर्णिमा तिथि के पूर्वार्द्ध में एवं चतुर्थी व एकादशी तिथि के उत्तरार्द्ध में भद्रा का वास होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष की तृतीया व दसवीं तिथि के उत्तरार्द्ध में और सप्तमी व चतुर्दशी के पूर्वार्द्ध में भद्रा होता है।[2]

मुहूर्तगणपति -प्रकरण - 7 श्लोक -20

मुहूर्तचिन्तामणि - प्रकरण - 12 श्लोक -43

भद्रा के प्रसंग में ब्रह्मयामल नामक ग्रन्थ में वर्णन आता है कि दिनवाली भद्रा रात्रि में और रात्रि वाली यदि दिन में हो ता भद्रा का दोष नहीं होता और यह भद्रा कल्याण करने वाला होता है।[1] इसके बाद गोवर्धनाचार्य कौओं के स्नान करने पर वृष्टि के न होने का वर्ण करते हैं।[2] "वाराहमिहिर" के ग्रन्थ से यह कथन और पुष्ट हो जाता है। आचार्य वाराह के अनुसार दूधवाले वृक्ष, अर्जुनवृक्ष या नदी के दोनों तट पर स्थित होकरके यदि कौवे शब्द करें या जल से स्नाना करें तो वर्षाकाल में वृष्टि होती है किन्तु अन्य ऋतुओं में दुर्भिक्ष पड़ जाता है।[3] यहाँ पर आचार्य गोवर्धन का अभिप्राय सम्भवत: वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में कौवों के स्नान करने पर वृष्टि का अभाव होने से है।

ज्योतिषशास्त्र के प्राय: सभी ग्रन्थों में शनि को क्रूर ग्रह एवं पापी ग्रह स्वीकार किया गया है। यही शनि जब वक्र होता है तो महाक्रूर हो जाता है।

---

1. दिवा भद्रा यदा रात्रौ रात्रिभद्रा यदा दिवा ।
   न तत्र भद्रा दोष: स्यात् सा भद्रा भद्रदायिनी ।।
   — ब्रह्मयामल

2. धर्मारम्भेऽप्यसतां परीहसैव प्रयोजिका भवति ।
   काकानामभिषेकेऽकारणतां वृष्टिरनुभवति ।।
   — आ० स० 307

3. "बृहत्संहिता"— वायसविरुताध्याय श्लोक – 16 ।

इसकी वक्रता के समय सम्पूर्ण संसार अशांत होने लगता है। उस समय लोग शनि के शान्त्यर्थ शनि की प्रतिमा को तैल से स्नान कराना, तैल का दीपदान, लोहे इत्यादि का दान तथा अन्य प्रकार से पूजा करते हैं तथापि शनि अपने स्वाभाविक स्वभाव के कारण प्रतिकूल फलों को देना बन्द नहीं करता। "फलित ज्योतिष में वर्णित इस सिद्धान्त का वर्णन कवि नायक नायिका के व्याज से कहता है।[1]

ज्योतिषशास्त्र में पन्चांग का विशेष महत्त्व है। पाँच अंगों को मिलाकर पंचांग बनता है। ये पाँच अंग है - वार, तिथि, नक्षत्र, योग एवं करण । इसमें दिन के पश्चात् सबसे अधिक महत्त्व "तिथि" का ही होता है। "वशिष्ठ - सिद्धान्त" की उक्ति है कि सूर्य के साथ संयोग करके चन्द्रमा का प्रतिदिन का गमन तिथि संज्ञक होता है। जबकि सूर्य चन्द्रमा एक तिथि में कलादि से समान होते हैं तो दर्श होता है। इसके अनन्तर अधिक गतिमान चन्द्रमा जब सूर्य से 12 अंश से अधिक होता है तब एक तिथि होती है।[2] जैसे मास

---

1. महति स्नेहे निहित: कुसुमं बहु दत्तमर्पितो बहुश: ।
   वक्रस्तदपि शनैश्चर इव सखि दुष्टग्रहो दयित: ।।

   - आ० स० 447

2. सूर्यान्निर्गत्य यत्प्राचीं शशी याति दिने दिने ।
   लिप्तादिसाम्ये सूर्येन्दु तिथ्यन्तेऽर्कशशिकोस्तिथि: ।।

   - वशिष्ठ सिद्धान्त

की वृद्धि एवं क्षय होता है उसीप्रकार तिथि की वृद्धि एवं क्षय हुआ करता है। आचार्य श्रीपति ने कहा है कि जिस वार में दो तिथियाँ समाप्त होकर तीसरी का भी प्रारम्भ हो जाता है तो मध्यवर्तिनी का ह्रास हो जाता है; इसी को तिथिक्षय संज्ञा दी जाती है।[1] जब एक दिन में दो तिथियाँ होती हैं तब बाद की तिथि ही रात्रि में उपभोग करती है - इस ज्योतिष के प्रसंग को गोवर्धनाचार्य सौत के दुःख से दुःखित नायिका को कोई नायक की सखी समझाते हुए कहती है कि वह नायिका दिनयोग्य कार्य करने से उसकी गृहिणी है जैसे दो तिथि वाले दिन की दूसरी तिथि रात्रि में सेव्य होती है उसी प्रकार रात्रि में तू सेव्य है।[2] पुनः आचार्य गोवर्धन की मान्यता के अनुसार "बृहस्पति राशि-

---

1. अवमः स्पृशति तिथिद्वयावसानं वारश्चेत्तमदिनम् - तदुक्तमार्यैः।
   यः स्पर्शाद् भवति तिथित्रयस्य चाह्नां त्र्यहस्पृक् स पुनरिदं द्वयं च नेष्टम्॥
   - आचार्य श्रीपति

2. सा दिवसयोग्यकृत्यव्यपदेशा केवलं गृहिणी ।
   द्वितिथिदिवसस्य परा तिथिरिव सेव्या निशि त्वमसि॥
   - आ० स० 588

परिवर्तन के समय वृष्टि कारक होता है।[1] ज्योतिष शास्त्र की मान्यता के अनुसार आचार्य का यह तथ्य विचार करने पर समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि चन्द्रमा, शुक्र एवं बृहस्पति वर्षा के ग्रह माने जाते हैं। आचार्य वाराह के अनुसार सूर्य से आगे राशि में जब मन्दगति वाले ग्रह यथा बृहस्पति, शनि से मंगल गमन करते हैं तथा शीघ्र गति वाले ग्रह चन्द्रमा, शुक्र, एवं बुध सूर्य से पूर्वराशियों में गमन करत है तो इतनी वृष्टि होती है कि पृथ्वी समुद्र के समान प्रतीत होने लगती है।[2] बृहस्पति एक राशि का लगभग 13 मास पर्यन्त भोग करके राशि परिवर्तन करता है एवं सूर्य के सान्निध्य से प्रतिवर्ष उदय और अस्त भी होता है। ज्योतिष शास्त्र की मान्यता के अनुसार गुरु के उदयास्त के समय या राशि-परिवर्तन के समय यदि सूर्य बुध एवं शुक्र ग्रह के मध्य में न हो तो भारी वृष्टि होती है। संभवतः आचार्य गोवर्धन इसी मान्यता को ध्यान में रखकर बृहस्पति के राशिपरिवर्तन पर जलवृष्टि का वर्णन किये हैं।

---

1. सर्वंसहां महीमिव विधाय तां बाष्पवारिभिः पूर्णाम् ।
   भवनान्तरमयमधुना संक्रान्तस्ते गुरुः प्रेमा ।।

   – आ० स० 644

2. अग्रतः पृष्ठतोऽथवापि ग्रहाः सूर्यावलम्बिनः ।
   यदा तदा प्रकुर्वन्तु महीमेकार्णवामिव ।।

   – बृहत्संहिता

आचार्य को पक्षियों के माध्यम से पृथ्वी के गर्भ में स्थित होने वाले रत्न, खजाना या अन्य वस्तुओं का भी ज्ञान था। इसका वर्णन कवि खन्जन-दम्पती के माध्यम से करता है- "जहाँ खन्जन पक्षी मैथुन करते हैं वहाँ पृथ्वी के भीतर निधि होती है।[1]

"वाराहमिहिर" के अनुसार, जिस स्थान पर खन्जन पक्षी मैथुन करता है उसके नीचे निधि यानि खजाना रहता है।[2] आचार्य कश्यप भी इसी मत के पोषक हैं।[3]

- -

1. अङ्गेषु जीर्यति परं खन्जनयूनोर्मनोभवप्रसर: ।
न पुनरनन्तर्गर्भितनिधिनि धरामण्डले केलि: ।।

- आ0 स0 7

2. " तस्मिन्निधिर्भवति मैथुनमेति यस्मिन्............. ।

- बृहत्संहिता खन्जनक लक्षणाध्याय श्लोक 12

3. " मैथुनं कुरुते यत्र तत्र वै निधिमादिशेत् ....।

- कश्यप संहिता

आचार्यगोवर्धन को रत्नों एवं रत्नपरीक्षण का विशिष्ट ज्ञान था। इसका ज्ञान हमें उनके उस प्रसंग से प्राप्त होता है जिसमें आचार्य ने वीर-पुरुष आपत्ति में भी नीच कार्य नहीं करते- इसकी तुलना हीरे-पत्थर से की है।[2] आचार्य वाराह ने हीरे का लक्षण बताते हुए कहा है कि जो हीरा किसी वस्तु से न टूटे, थोड़े से जल में भी किरण की तरह तैरता रहे, निर्मल, बिजली अग्नि, या इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाला हो वह कल्याणकारी होता है।[3]

काव्यशास्त्रीय ज्ञान -

गोवर्धनाचार्य को पौराणिक तथा ज्योतिष ज्ञान के साथ-साथ काव्यशास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान था। आचार्य के अनुसार, " वर्णमैत्री से युक्त बन्धविशेषशाली काव्य का अर्थबोध कर्कश और ग्राम्य शब्दों तथा पुरुषों द्वारा नहीं होता किन्तु साधु (व्याकरण सम्मत- निर्मल मति) तथा उचितवर्णोपेत शब्दों एवं विद्वान् पुरुषों द्वारा ही होता है ।"[4]

- -

2. दीर्घितचापोच्छ्रायस्तेजोवद्भिः सुगोत्रसंजातैः ।
हीरैरश्मस्वपि धीरैरापत्स्वपि गम्यते नाधः ।।
- आ० स० 294

3. सर्वद्रव्याभेद्यं लघ्वाम्भसि तरति रश्मिवत् स्निग्धम् ।
तडिदनलशक्र चापोऽपमं च वज्रं हितायोक्तम् ।।
- बृहत्संहिता रत्नपरीक्षाध्याय श्लोक-14

4. काव्यस्याक्षरमैत्रीभाजो न च कर्कशा न च ग्राम्याः ।
शब्दा अपि पुरुषा अपि साधव एवार्थबोधाय ।।
- आ० स० ग्र० प्र० 40

इसी प्रकार आगे आचार्य काव्य में प्रसाद गुण की महत्ता पर जोर देते हुए कहता है, "गूढ प्रतिपाद्यविषय को ठीक से व्यक्त न कर सकने वाले, प्रसादगुणरहित काव्य का रस, और जिसके भीतर छिपे पदार्थ दिखाई न दें ऐसा निर्मलता रहित नद का जल, रसज्ञों को प्रीतिकारक नहीं होता।"[1] इसी प्रकार काव्य का मुख्य धर्म रसप्रतीति कराना;[2] काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता का होना;[3] अलङ्कार का काव्य में रस के सामने कम महत्त्व होना[4]; तथा काव्य में छन्द प्रयोग विधान[5] आदि का सम्यक् ज्ञान था।

---

1. अन्तर्गूढानर्थानव्यन्जयत: प्रसादरहितस्य ।
   सन्दर्भस्य नदस्य च न रस: प्रीत्यै रसज्ञानाम् ॥

   – आ० स० ग्रं० प्र० 44

2. अकलितशब्दालङ्कृतिनुकूला स्खलितपदनिवेशापि ।
   अभिसारिकेव रमयति सूक्ति: सोत्कर्ष शृङ्गारा ॥

   – आ० स० ग्रं० प्र० 47

3. आ० स० ग्रं० प्र० 48

4. आ० स० ग्रं० प्र० 54

5. सुरसप्रवर्तमान: संघातोऽयं समानवृत्तानाम् ।
   एत्यैव भिन्नवृत्तैर्भङ्गुरित: काव्यसर्ग इव ॥

दार्शनिक ज्ञान -

कवि भारत के दर्शन से पूर्ण परिचित था। कवि वेदोक्त अनुष्ठानों का उल्लंघन करने वाले जैनदर्शन एवं बौद्ध-दर्शन की चर्चा करता है। भारतीय दर्शन में जैनदर्शन एवं बौद्ध-दर्शन वेदों के कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं। वेदोक्त कर्मकाण्ड के प्रतिक्रिया के रूप में इन दर्शनों का उदय हुआ था। कवि इन तथ्यों से पूर्णत: परिचित था। कवि "जिनसिद्धान्त" की तुलना नायिका की दृष्टि से करता है।[1] इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के "क्षणिकवाद" सिद्धान्त की तुलना नायक से करता है।[2] इसके साथ-साथ वैशेषिक दर्शन की "आत्मा" सम्बन्धी अवधारणा का भी उल्लेख करते हैं।[3] इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को भारतीय दर्शन का भी ज्ञान था।

---

1. अतिपूर्जिततारेयं दृष्टि: श्रुतिलङ्घनक्षमा सुतनु ।
 जिनसिद्धान्तस्थितिरिव सवासना कं न मोहयति ।।
 - आ० स० 21

2. बौद्धस्येव क्षणिको यद्यपि बहुवल्लभस्य तव भाव: ।
 भग्ना भग्ना भ्रूरिव न तु तस्या विघटते मैत्री ।।
 - आ० स० 408

3. कणभुजां दूषणमपि भूषणपक्ष एव निक्षिप्तम् ।
 गुणमात्मनामधर्मं द्वेषं च गृणन्ति काणादा: ।।
 - आ० सं० 550

कामशास्त्रीयज्ञान -

सम्पूर्ण आर्यासप्तशती कामशास्त्रीय विधानों से ओतप्रोत है। चूँकि कवि का वर्ण्य-विषय श्रृङ्गार रस की विवेचना करना ही रहा है; अत: वह कामशास्त्र को अधिक महत्त्व दिये है। यथा- सम्भोग की अवधि बढ़ाने हेतु अन्यत्र चित्र-विधान-विधि का उल्लेख;[1] करिहस्तनिर्देश[2] पद्मिनी नायिका का शशजानीय पुरूष से सम्बन्ध;[3] चिरप्रवास की स्थिति में प्रस्थान करते समय नायक द्वारा नायिका के अंगों पर नखक्षत" विधान[4] आदि काममविषयक ज्ञान की परिपक्वता।

- -

1. इह शिखरिशिखावलम्बिना विनोददरलतरलवपुषि तरूहरिणे ।
पश्या भिलषति पतितुं विहगी निजनीडमोहेन ।।
- आ0स0 109

इसी प्रकार आ0 स0 322 एवं 579

कामसूत्र में इसका वर्णन इसप्रकार हुआ है-

"वानरं चपलं ध्यायेद् वृक्षशाखावलम्बिनम् इति।"

शाखामृगमतिचपलं क्षितिरूहनिहितं विचिन्तयेत् प्राज्ञ: ।
अपिमणिमुखपर्यन्त: प्राप्तं बीजं हि नो गलति ।। इति

2. आ0स0 507 ।
"कामशास्त्र" में यह विधि इस प्रकार है -
तर्जन्यनामिके युक्ते मध्यमा स्याद् बहिष्कृता ।
करिहस्त समुद्दिष्ट: कामशास्त्रविशारदै: ।।

3. आ0 स0 640 ।

4. द्वित्रैरेष्यामि दिनैरिति किं वदसि सखि तवाश्वास: ।
कथयति चिरपथिकं तं दूरनिखातो नखाङ्कस्ते ।।
आ0 स0 291

इसी प्रकार गोवर्धनाचार्य को संगीतज्ञान,[1] द्यूतक्रीडादिक ज्ञान[2], आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान[3], यज्ञ-यागादिक ज्ञान[4] एवं नीतिज्ञान[5] के साथ- साथ लौकिकजीवन के विविध पक्षों का विधिवत् ज्ञान था।

कवि के उपर्युक्त ज्ञान-वैविध्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के पास कवित्व प्रतिभा थी। इसके साथ ही साथ उन्होंने यास्क की कवि - विषयक अवधारणा को आत्मसात किया है[6]। ऐसा लगता है कि पं० बलदेव उपाध्याय भी कवि की बहुआयामी प्रतिभा से मुग्ध होकर उन्हें "मानव हृदय की 'प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी" कहा है।[7]

- -

1. आ० स० 141 एवं 566 ।

2. आ० स० 622, 623, 78, 110 आदि ।

3. आ० स० 46, 149 एवं 429 आदि ।

4. आ० स० 43, 81, 144 ।

5. आ० स० 86, 173, 193, 195, 219,269;272,279,294,303,314,316 344,396,453,467,486,505,546,609,670 एवं 682 आदि।

6. " कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवते वा ।" - यास्क

7. "संस्कृत साहित्य का इतिहास ।"

कृतित्व

संस्कृत-साहित्य में गोवर्धनाचार्य की एकमात्र कृति "आर्यासप्तशती" ही उपलब्ध होती है। इसी एकमात्र रचना के द्वारा गोवर्धनाचार्य संस्कृत-साहित्य में प्रतिष्ठित होकर सहृदयहृदय को रसाप्लावित कर दिये है।"आर्यासप्तशती"में कवि की बहुमुखीप्रतिभा, कल्पना की प्रचुरता, उक्तिवैचित्र्य एवं बिम्बविधानादि की सम्यक् झाँकी दृष्टिगत होती है।

संस्कृत -वाङ्मय के सरसमुक्तकों की परम्परा में गावेर्धनाचार्य की "आर्यासप्तशती" का महत्व पूर्ण स्थान है। जैसा कि आर्यासप्तशती के नाम से ही स्पष्ट है कि "सात सौ आर्या छन्दों से युक्त रचना।" इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त रचना में केवल एक ही छन्द "आर्या" का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत विवेच्य कृति में कवि ने आर्या जैसे छोटे छन्द के माध्यम से श्रृङ्गार-रस के संयोग तथा वियोग की दशा में नायक नायिकाओं की ललित कल्पनाओं का बड़ा ही भावप्रवण विवेचन ह किया है। यद्यपि आर्या जैसे छोटे छन्द के माध्यम से सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति एक दुरूह कार्य प्रतीत होता है, परन्तु तो भी कवि ने जिस उक्ति-वैचित्र्य का सहारा लिया है- वह सर्वथा श्लाघ्य है। उन्होंने वियोगिनी बालाओं की समस्त वेदनाओं एवं विभिन्न मन:स्थितियों को जिस प्रकार से अभिव्यक्त किया है, वह उनकी काव्य-प्रतिभा का ही वैशिष्ट्य है। कवि ने ग्रन्थारम्भ प्रज्या में ही

अपने "आर्या" छन्द की प्रशंसा की है।[1] आर्या के इसी वैशिष्ट्य के कारण आधुनिक समीक्षक इन्हें "गागर में सागर" भरने वाला कवि मानते हैं। समीक्षकों की दृष्टि में "दामोदरगुप्त" के पश्चात् यही कवि "आर्या"छन्द के प्रयोग में सफल हुआ है। और निश्चित रूप से उसकी इस सफलता के कारण ही उसे "आर्याओं का बादशाह" कहा जा सकता है।[2]

कवि अपने ग्रन्थ को गुणाढ्यादि महाकवियों की कृति के समकक्ष बताते हुए कहता है कि गणाढ्य,भवभूति, बाण,कालिदास ऐसे पूर्व के कवियों द्वारा विभिन्न वृत्तों §1• छन्दों 2• चरितों§ वाली बाणी देवी की सेवा करते मेरा कौन दोष है, इसे सज्जन

- -

1• मसृणपदरीतिगतय: सज्जन हृदयाभिसारिका: सुरसा: ।
मदनद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्या: ।।
- आ0 स0 ग्र0 प्र0 51

2• " संस्कृत साहित्य का इतिहास"- पं0 बलदेव उपाध्याय
पृष्ठ-344

देखें।[1] इसी सर्ग में कवि अपनी "आर्यासप्तशती" की प्रशंसा करते हुए कहता है कि मेरी यह आर्यासप्तशती [1. काव्यग्रन्थरूपा, 2. नायिकारूपा; 3. ब्रह्मविद्यारूपा] सज्जनों का कर्णभूषण बने। जो व्यन्जना से युक्त है, जो त्रिभुवन में रसवती जिससे त्रिभुवन सरस है, जिसमें उक्तिचातुर्य व्यक्त है और जो मदनरूप भ्रमर की हितकारिणी है।[2] इस आर्या के माध्यम से विवेच्य कृति का सम्पूर्ण सार मालुम हो जाता है। यही कारण है कि कवि को अपनी कृति पर गर्व है। वह स्वयं अपनी सप्तशती के गौरव तथा वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मैंने यह आर्यासप्तशती नामक काव्यग्रन्थ रचा है जो कवियों के संग्राम में सिंहनाद है[इसे सुनकर अन्य कवियों का दर्प भाग जाता है], षड्जादि स्वर जिसका अनुवाद है [इसमें षड्जादि की अपेक्षा अधिक माधुर्य है] जो सुधा के समान है, जो विद्वानों को विनोद प्रदान करता है।[3]

- -

1. पूर्वैर्विभिन्नवृत्तां गुणाढ्यभवभूतिबाणरघुकारैः ।
   वाग्देवीं भजतो मम सन्तः पश्यन्तु को दोषः ॥
   — आ० स० 697

2. एकाऽपी त्रितीय त्रिभुवनसारा स्फुरोक्तिचातुर्या ।
   पन्चेषुषट्पदहिता भूषा श्रवणस्य सप्तशती ॥
   — आ० स० 699

3. कविसमरसिंहनादः स्वरानुवादः सुधैकसंवादः ।
   विद्वद्विनोदकन्दः संदर्भोऽयं मया सृष्टः ॥
   — आ० स० 700

गोवर्धनाचार्य तथा उनकी कृति की प्रशंसा करते हुए "राहुल सांकृत्यायन" ने इसप्रकार कहा है- "अपभ्रंशकाल के संस्कृत कवियों की कटीली झाड़ियों या रेगिस्तानों में घसीटने के बाद आचार्य गोवर्धन के पास आकर बड़ी सांत्वना मिलती है। इनकी एक-एक आर्या "गागर में सागर" है। भाषा भी दुरूह नहीं और भाव भी हृदयग्राही है।"[1]

- -

1. संस्कृत- काव्यधारा - पृष्ठ 168

0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0
0

द्वितीय अध्याय

मुक्तक काव्यों की परम्परा

मुक्तक काव्यों की परम्परा

मुक्तक काव्य

मुक्तक का तात्पर्य है, पूर्वापर प्रसङ्गरहित परस्पर निरपेक्ष पद्य-समूह। मुक्तक काव्यों में पूर्वापर प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती है। वे अपने आप में पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और पूरा भाव प्रायः एक ही पद्य में पूर्ण हो जाता है।

"मुक्तक" शब्द मुक्त शब्द से संज्ञार्थ[1] अथवा ह्रस्व[2] अर्थ में "कन्" प्रत्यय होने पर बनता है। पुनः मुक्त शब्द भी "मुच्" धातु से क्त प्रत्यय जोड़ने पर सम्पन्न होता है तथा भूतकाल एवं फलाश्रय के समानाधिकरण का ज्ञान कराता है। इस प्रकार मुक्त शब्द का अर्थ होता है छोड़ा हुआ अथवा स्वतन्त्र। इस तरह मुक्तक का शाब्दिक अर्थ हुआ- "मुच्यते इति मुक्तकम् तदेव ह्रस्वं द्रव्यं मुक्तकम्।" अर्थात् लघुकलेवर मुक्त पदार्थ मुक्तक कहलाता है।

भामह ने मुक्तक को अनिबद्ध काव्य कहा है[3]। और उसका विशिष्ट लक्षण न देकर सामान्य रूप से कह दिया है कि गाथा और श्लोक मात्र आदि को अनिबद्ध काव्य कहते हैं।[4] मात्र शब्द का प्रयोग उन्होंने एकाकी के अर्थ में किया है। अर्थात् अकेले श्लोक

---

1. संज्ञायां कन् अष्टा० 5/3/87
2. ह्रस्वे
3. काव्यालङ्कार 1/18
4. अनिबद्धं पुनर्गाथा श्लोकमात्रादि तत्पुनः ।।
   काव्यालङ्कार 1/20

या गाथा को अनिबद्ध काव्य कहते हैं। इस परिभाषा से मुक्तक की विशेषताओं का उद्घाटन नहीं होता। दण्डी ने भी कह दिया कि सर्गबन्ध के ही अंश होने के कारण मुक्तक कुलक, कोश और संघात की परिभाषाएँ नहीं दी गई हैं।[1] वामन ने भी पद्यमय काव्य के अनिबद्ध और निबद्ध भेदों का उल्लेख मात्र तो किया है, उनके लक्षण नहीं दिये हैं केवल यह कह दिया है कि प्रसिद्ध होने के कारण इनके लक्षणों की आवश्यकता नहीं है।[2] इस पर कामधेनु टीका के कर्ता ने लिखा है[3] – मुक्तक का लक्षण भामह ने इस प्रकार किया है, पहले मुक्तक आदि का ऋजु लक्षण कहा जाता है। गम्भीर्य, औदार्य, शौर्य नीति और मति का स्पर्श करने वाले एक ही पद्य में रचित काव्य मुक्तक दो पद्यों वाला द्विक और तीन वाला त्रिक् कहलाता है।

मुक्तक का तात्पर्य है, परस्पर निरपेक्ष पद्य-समूह। आचार्य अभिनवगुप्त इसी दृष्टि से अपने आप में परिपूर्ण अभिप्राय वाले श्लोकों को मुक्तक की संज्ञा देते हैं और मुक्त शब्द से संज्ञा में कन् प्रत्यय करके इसकी सिद्धि करते हैं[4]। आचार्य द्वारा प्रदत्त, मुक्तक की यही परिभाषा परवर्ती समीक्षकों द्वारा भी पुष्ट की गयी है। आचार्य विश्वनाथ ने

---

1. मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः ।
   सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्य विस्तरः ।।
   "काव्यादर्श 1/13"
2. अनयोः प्रसिद्धत्वाल्लक्षणं नोक्तम्। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1/3/27
3. प्रथमं मुक्तकादीनामृजुलक्षणमुच्यते ।
   यदेवगाम्भीर्यौदार्यशौर्यनीतिमतिस्पृशा ।
   भवेन्मुक्तकमेकेन द्विकं द्वाभ्यां त्रिकं त्रिभिः।।
4. मुक्तकमन्येनालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्.....
   पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तम्।। ध्व0लो0टीका 3/63

छन्दोबद्धपद को मुक्तक कहा है।[1] काव्यानुशासन में भी यही रूप प्रतिपादित हुआ है।[2] अग्निपुराण में अकेले ही रहकर चमत्कार सृष्टि में समर्थ श्लोक को मुक्तक कहा गया है।[3] वैसे तो अग्निपुराणकार ने अलङ्कारवादी और रसवादी दृष्टिकोण में समन्वय करते हुए कहा है कि यद्यपि काव्य में वाग्वैदग्ध्य की ही प्रधानता रहती है तथापि उसका जीवन रस ही है[4], परन्तु मुक्तक भी रस-सृष्टि में समर्थ हो सकता है इसमें उन्हें कुछ सन्देह था। अतः उन्होंने "चमत्कारक्षम" विशेषण ही दिया।

मुक्तक सम्बद्ध उपर्युक्त सामग्री के विश्लेषणात्मक अध्ययन को आधार बनाकर यह मान्यता स्थापित की जा सकती है कि "मुक्तक, काव्य का वह स्वरूप है जिसका प्रत्येक श्लोक अपनी अर्थयोजना के लिए अपने आप में पूर्ण होता है" मुक्तक का यही स्वरूप

- -

1. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।

साहित्य दर्पण 6/314

2. एकेन छन्दसा वाक्यार्थसमाप्तो मुक्तकम् ।

काव्यानुशासन 8/11 पर वृत्ति ।

3. मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।।

अग्निपुराण 337/36

4. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।

अग्निपुराण 337/33

आधुनिक आलोचना में भी स्वीकृत हुआ है।[1]

मुक्तक काव्य में अर्थग्रहण तथा रसनिष्पत्ति

मुक्तक काव्य के सम्बन्ध में साहित्यिक क्षेत्र में अर्थग्रहण तथा रसनिष्पत्ति विषयक दो कठिनाइयों की चर्चा की गयी है। ऊपर कहा जा चुका है कि मुक्तक काव्य का प्रत्येक श्लोक पूर्वापर प्रसंग से रहित होता है। ऐसी स्थिति में विना पूर्वापर प्रसंगों के बोध के अर्थग्रहण में कठिनाई हो सकती है। मुक्तककारों के थोड़े में बहुत कुछ कह देने की प्रस्तुति के कारण यह समस्या और भी कठिन हो जाती है।

प्रस्तुत समस्या का एकमात्र हल यही निकाला जा सकता है कि मुक्तकों के अर्थग्रहण के लिए पाठक को कल्पनाशक्ति के सहारे ही पूर्वापर प्रसङ्गों का बोध करना चाहिए। स्वयं मुक्तककार भी प्रत्येक मुक्तक को अपने आप में पूर्ण बनाने के लिए, भाव की परिपूर्णता कला का सौष्ठव एवं भाषा की समासशक्ति का सहारा लेता है। डॉ0भोलाशंकर

---

1. डॉ0 भोलाशंकर व्यास ने मुक्तक की उपर्युक्त परिभाषा को ही अन्य शब्दों में पुष्ट करते हुए लिखा है-" मुक्तक काव्य वह है, जिसमें प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है वह एक छोटा सा स्वत: पूर्ण चित्र होता है, उसे प्रसंगादि के लिए किसी दूसरे पद्य की अपेक्षा नहीं होती।"

संस्कृत कविदर्शन' पृष्ठ 539-40

व्यास ने इसी तथ्य को इन शब्दों में निरूपित किया है-" मुक्तक काव्य एक ही कृति के डोरे में पिरोये हुए अलग-अलग मोती हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा विलग रहते हैं।.... ... स्वत: पूर्णता का संचार करने के लिए उसमें भावपक्ष की परिपूर्णता, कलापक्ष का सौष्ठव तथा भाषा की समास शक्ति अत्यधिक अपेक्षित होती है।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तकों के अर्थग्रहण में मुक्तक के रचयिता एवं पाठक दोनों का ही सहयोग अपेक्षित होता है। भाव, कला एवं समास-शैली में रचित प्रत्येक मुक्तक ही कल्पनाशील पाठक के लिए सुबोध होता है। भाव,कला एवं समास शैली में विरचित मुक्तक को ही सम्भवत: अग्निपुराण में अपने आप में चमत्कार की क्षमता से परिपूर्ण कहा है। ऐसे चमत्कारी मुक्तकों का अर्थग्रहण प्रबुद्ध पाठक बिना कल्पनाशक्ति के कैसे कर सकता है ?

अब मुक्तक काव्यों के सन्दर्भ में रसनिष्पत्ति सम्बन्धी कठिनाई को विवेचित करना है। आर्या जैसे एक ही छोटे-छोटे छन्दों में भला रसचर्वणा कैसे हो सकती है ? निश्चित ही इस स्थिति में रसचर्वणा के लिए पुन: कल्पनाशक्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अर्थनिष्पत्ति एवं रसनिष्पत्ति की इन्हीं विसंगतियों के कारण मुक्तक काव्य आलोचना के क्षेत्र में विवादास्पद रहा है। आचार्य वामन जैसे प्रबुद्ध समालोचक ने भी मुक्तक काव्यों

---

1. संस्कृत कवि दर्शन; पृष्ठ 540

की आलोचना करते हुए कहा है कि जैसे अग्नि का अकेला परमाणु नहीं चमकता, उसीप्रकार अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य प्रकाशित नहीं होता।[1]

संस्कृत आलोचना की यह प्राचीन मान्यता हिन्दी की आधुनिक समालोचना के क्षेत्र में भी विद्वानों के एक वर्ग में प्रतिष्ठित हुई है। हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकाव्यों की तुलना में मुक्तक काव्यों को हेय दृष्टि से देखा है। उनके अनुसार सौन्दर्य की दृष्टि से यदि प्रबन्धकाव्य वनस्थली होता है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता। मुक्तक काव्यों में आनन्द की सिद्धावस्था प्रस्फुटित होती है जब कि प्रबन्धकाव्यों में आनन्द की साधनावस्था वाला जीवन का गत्यात्मक चित्र उपस्थित हुआ रहता है।[2]

परन्तु उपर्युक्त आलोचना के अलावा भावात्मक, कलात्मक एवं समाहार-शक्ति के अद्भुत मिश्रण के रसपरिपाक से ओतप्रोत यही मुक्तक आलोचकों के एक दूसरे वर्ग द्वारा समादृत हुआ है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने मुक्तकों के इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण प्रबन्ध काव्यों की ही भाँति मुक्तकों में भी रस-पयस्विनी को प्रवाहित माना है। उनकी

---

1. नानिबद्धं चकास्त्येकतेज: परमाणुवत्।

" न खलु अनुबिद्धं काव्यं चकास्ति-दीप्यति। यथैकतेज: परमाणुरिति।
अत्र श्लोक: -
असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसा: परमाणव:।।

2. विस्तृत - विवेचन हेतु द्रष्टव्य है- डॉ. भोलाशंकर व्यास का संस्कृत कवि दर्शन पृष्ठ 535-36

दृष्टि में अमरुक का एक-एक श्लोक रस की दृष्टि से किसी भी प्रबन्धकाव्य की टक्कर लेने में सक्षम है। आचार्य अभिनवगुप्त भी इसी तरह की मान्यता स्थापित करते हुए कहते हैं कि प्रबन्ध काव्यों में भी कहीं- कहीं कोई ऐसा समर्थ श्लोक रहता है जो अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र एवं रस परिपाक की दृष्टि से पूर्ण समर्थ रहता है।[2] ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुक्तक द्वारा भी रस की सृष्टि सम्भव है।उनके अनुसार प्रबन्ध या मुक्तक में रस का निर्वाह करने के इच्छुक सुबुद्ध कवि को विरोधी भावों के परिहार का यत्न करना चाहिए[3]। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन तथा लोचनकार अभिनवगुप्त ने मुक्तकों में भी प्रबन्धकाव्यों की भाँति रसप्रवाह की अवधारणा को पुष्ट किया है।

1· " मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन: कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका: शृङ्गाररसस्यन्दिन: प्रबन्धायमाना: प्रसिद्धा एव।"

-ध्वन्यालोक; तृतीय उद्योत

2· पूर्वापरनिरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेवमुक्तकम् ।

-ध्वन्यालोक लोचन टीका 3/63

3· प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता ।
यत्न: कार्य: सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्।।

- ध्वन्यालोक

अन्त में देशवकृत "शब्दकल्पद्रुमकोष" में मुक्तक के सभी गुणों को स्पष्ट किया गया है।[1] इस परिभाषा के प्रथम चारशब्दों से स्पष्ट है कि जो पद्य अर्थ प्रत्यायन और रसास्वादन में परापेक्षी न होकर पृथक् और व्यवच्छिन्न रूप में स्वतः पूर्ण हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्धकाव्य में अर्थ का पर्यवसान कथानकगत होता है जबकि मुक्तक में उसकी अपेक्षा नहीं होती। 'निर्व्यूढ' शब्द जिसका अर्थ है अच्छी प्रकार किया हुआ, मुक्तक की इसी विशेषता को लक्षित करता है। "विशेषित" शब्द उसके विशिष्ट उद्देश्य और अति-शोभन उसकी कलात्मकता का द्योतन करता है। स्त्रियों के लावण्य के समान ध्वनि ही मुक्तक की शोभा है। रसास्वादन और चमत्कृति प्रबन्ध के प्रत्येक पद्य में संभव नहीं किन्तु मुक्तक में रस की समग्र विशेषताओं का समाहार आवश्यक है। यही मुक्तक का विशेष उद्देश्य है जो उपर्युक्त विशेषित विशेषण से अभिव्यक्त है। मुक्त शब्द का एक अन्य अर्थ ब्रह्मानन्द-प्राप्त आत्मा भी है। इन सभी अर्थों की संगति करते हुए मुक्तक की परिभाषा निम्न प्रकार से की जा सकती है - " मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो परतः निरपेक्ष रहता हुआ भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो। चमत्कृति गुम्फन एवं ध्वनि आदि की

---

1. विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम् ।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूढं मुक्तकं याति शोभनम् ।।
-शब्दकल्पद्रुमकोष

विशेषताओं के कारण रमणीय तथा चर्वणा में ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति द्वारा हृदय को मुक्त दशा में पहुँचाने में समर्थ हो।"

मुक्तक का महत्त्व

प्रबन्ध काव्य में रस और चमत्कार प्रबन्धव्यापी होते हैं। पद्यों का सामूहिक प्रभाव इस दिशा में लेखक का सहायक होता है। अर्थात् काव्यानन्द की अनुभूति सम्पूर्ण काव्य पर निर्भर होती है; किसी एक पद्य विशेष पर नहीं, तथा कथानक एवं पात्र आदि अन्य तत्त्वों का भी कुछ न कुछ योग अवश्य रहता है। पाठक पात्रों की गतिविधि से उत्तरोत्तर अभिज्ञ होता हुआ प्रभावित होता जाता है और इस अभिज्ञता के अनुपात से ही क्रमशः तत्तत्पात्रों के प्रति उसके हृदय में सूक्ष्म संस्कार प्रतिष्ठित होते जाते हैं जो यथाप्रसंग रसास्वादन में सहायक सिद्ध होते हैं। कथावस्तु की कौतूहलजन्य निजी रमणीयता में बहुत कुछ रमा हुआ हृदय-परिणाम की जिज्ञासा के कारण सूक्ष्म दोषों एवं स्खलनों के प्रति अधिक चेतन भी नहीं रहता। यही कारण है कि प्रबन्ध काव्यगत शतशः नीरस पद्यों को वह निरपेक्ष भाव से शीघ्रता के साथ पढ़ता हुआ छोड़कर आगे चल देता है और सामूहिक रूप में ही उसके गुण-दोषों का अनुभव करता है। मुक्तक में ये सुविधाएँ नहीं रहती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रबन्धकाव्य में प्रसार अधिक होता है और मुक्तक में गहराई। सच तो यह है कि प्रबन्धकाव्य की रसवत्ता भी यत्र-तत्र समाविष्ट भावमय स्थलों पर ही निर्भर होती है। ऐसे स्थल अपने आप में पृथक् स्वतन्त्र काव्य के रूप में जीवित रहने में समर्थ होते हैं। प्रबन्ध काव्य के कारण उनका महत्त्व नहीं होता अपितु प्रबन्धकाव्य का

... महत्त्व उनके कारण होता है।

जॉन ड्रिङ्कवाटर ने मानव की मानसिक शक्ति के चार प्रमुख भेद माने हैं-

1. पूर्ण नियन्त्रणात्मिका बौद्धिक शक्ति (Profound Intellectual control of material)

2. पूर्ण भावात्मक चेतना (Profound emotional sensitiveness to material)

3. नैतिकता (Energy of morality)

4. कवित्व शक्ति (Poetic energy)

इनमें से प्रथम एवं द्वितीय को हम संगठन-शक्ति एवं सहृदयता का नाम दे सकते हैं। "जॉनड्रिङ्कवाटर " ने कवित्व शक्ति को सभी पदार्थों में श्रेष्ठ बतलाया है।[1]

विशुद्ध कवित्व-शक्ति ही रसमय मुक्तक काव्य की जननी होती है तथा प्रबन्धकाव्य अथवा नाटक भी इसी शक्ति के उन्मेष द्वारा सृष्ट काव्य-इकाइयों का संगठन शक्ति द्वारा संगुम्फित रूपमात्र है। "जॉनड्रिङ्कवाटर" ने स्पष्ट लिखा है कि वस्तुत: काव्य-गुण सम्पन्न को भी लम्बी कृति चाहे वह नाटक हो या महाकाव्य; पृथक्-पृथक् अनुभूतियों (काव्य- इकाइयों) की एक शृङ्खला है जो उन्हें उद्बुद्ध करने वाली शक्ति से भिन्न

---

1. Poetic energy is witness of the highest urgency of individual life, of all things, the most admirable, but still great.

- The Lyric pp.33.

किसी अन्य शक्ति द्वारा जोड़ी जाती है।[1]

अतः स्पष्ट है कि अपनी सीमाओं में आबद्ध होने पर भी मुक्तक का अपना अलग महत्त्व है। वह स्फटिक का एक ऐसा टुकड़ा है जो किसी मूर्ति के रूप में ढलकर एक स्वतन्त्र कलाकृति का स्थान भी पा सकता है और अपनी व्यष्टि को समष्टि में लय करके ताजमहल की आधारशिला भी बन सकता है। किन्तु इस प्रकार के मुक्तकों का प्रणयन उच्चकोटि की कला की अपेक्षा रखता है। प्रबन्धकाव्य के व्यापक क्षेत्र में इसका पूरा परिवार (विभाव, अनुभाव एवं संचारी आदि) बड़ी सुगमता से पाँव पसार सकता है किन्तु मुक्तक की संकीर्ण परिधि में उसे यथा स्थान फिट करना टेढ़ी खीर है। वस्तुतः मुक्तक को "मुक्तक" बनाने के लिए मुक्तककार को स्वयं अनेक प्रकार से बँधना पड़ता है। जहाँ प्रबन्धकार को कहने-सुनने (अभिधा का प्रयोग करने) की छूट प्राप्त है वहाँ मुक्तककार को व्यन्जना से ही काम लेना पड़ता है। बोलने का परिमित अधिकार होने के कारण उसे गिने-चुने शब्दों में अभीष्ट भावाभिव्यक्ति का उत्तरदायित्व निबाहना पड़ता है

---

1. "Any long work in which poetry is persistent, be it epic or drama or narative is really a succession of separate experiences governed into a related whole by an energy distinct from that which evoked them." – The Lyric, pp.54.

जिसके लिए वह चुस्त, सशक्त और प्रवाहपूर्ण भाषा का आश्रय लेता है। दूर तक विस्तृत जीवनक्षेत्र से उसे एक स्वत: रमणीय दृश्यखण्ड का चयन करना होता है जिसका जीता जागता चित्र वह अपने छन्द की छोटी सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके। अपनी कल्पना से उसे ऐसे वातावरण की सृष्टि करनी पड़ती है जिसमें अपने सीमित साधनों से ही वह भावों का साधारणीकरण करा सके। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुक्तक रचना में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं और प्रबन्ध-रचना में सुविधा ही सुविधा। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ एवं समस्याएँ हैं। मुक्तक में रस चाहे जितना भर दिया जाय फिर भी उसके सीमित आकार में रसभरता की इतनी गुन्जाइश नहीं रहती जितनी प्रबन्धकाव्य के विशाल निर्झर में, जिसे प्रवाह का सौभाग्य भी प्राप्त है, अतएव मुक्तक से श्रोता या पाठक को उस काल तक तृप्ति नहीं हो सकती जितने काल तक प्रबन्ध से। अर्थात् प्रबन्ध में मन को रमाने वाला आकर्षण मुक्तक की अपेक्षा अधिक होता है। यानी प्रबन्ध का प्रभाव स्थायी होता है और मुक्तक का प्रभाव क्षणिक। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान ही रसधारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय से एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं कि हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा

संगठित जीवन या उसके किसी एक अङ्ग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है।

मुक्तक और प्रबन्ध में कला के निर्वाह, भावाभिव्यक्ति एवं दृश्यविधान आदि में भिन्नता के साथ ही साथ उनके श्रोताओं की प्रतिभा के स्तर में भी भेद दृष्टिगत होता है। मुक्तककार को प्रसङ्ग का भार नहीं वहन करना पड़ता है। वह अपने मन में प्रसंग की कल्पना तो अवश्य करता है किन्तु उसे शब्दों द्वारा प्रकट न करके वर्ण्य-विषय की अभिव्यक्ति ही कुछ ऐसे ढंग से करता है कि प्रसङ्ग स्वत: स्पष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मुक्तक का रसास्वादन करने के लिए श्रोता को स्वयं प्रसङ्ग का अध्याहार करना पड़ता है। इसीलिए मुक्तक को समझने के लिए श्रोता की प्रतिभा का एक विशेष स्तर अपेक्षित होता है। कभी-कभी अधिक सहृदय पाठक या श्रोता ऐसे प्रसङ्ग की कल्पना कर लेता है जो मुक्तककार द्वारा सोचे हुए प्रसङ्ग की अपेक्षा अधिक मार्मिक होता है। इसके विपरीत प्रबन्धकार की कृति का सौष्ठव पूर्णरूपेण उसी की कल्पना और प्रतिभा पर निर्भर होता है। प्रसङ्ग-विधान या कथा-प्रवाह में तनिक सी भी शिथिलता आने से सब पर पानी फिर जाता है। मुक्तक की संक्षिप्तता ही उसका सबसे बड़ा गुण और सर्वप्रियता का मूलमन्त्र है। इसके कारण मुक्तक का प्रवेश ऐसे स्थानों में भी हो जाता है जहाँ प्रबन्ध-काव्य को उठाने की भी बात कोई सोच नहीं सकता। कवि-सम्मेलनों में

बन्ध-काव्य का पाठ करने वाला उपहास ही पा सकता है जबकि मुक्तककार दिये हुए ोड़े से ही क्षणों में श्रोताओं की वाहवाही लूट सकता है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक वनस्थली तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता। वनस्थली की रमणीयता का आनन्द प्राप्त करने लिए साहस और समय दोनों अपेक्षित हैं, उसमें विचरण करना छोटे-मोटे के बस की ात नहीं। फिर सभा एवं गोष्ठी की शोभा बढ़ाने के लिए गुलदस्ता चाहिए न कि वन -स्थली। राजा भोज के दरबार में मुक्तक के बल पर ही कवियों ने मुक्तकहार प्राप्त किये थे। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ भोलाशंकर व्यास ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता-खण्डित करते हुए कहा है कि - " यह सत्य है कि प्रबन्धकाव्यों का सौन्दर्य वनस्थली के समान विस्तृत होता है और मुक्तकों का सौन्दर्य चुने हुए गुलदस्ते के समान होता है परन्तु वन -स्थली के सौन्दर्यपान के लिए हमें पर्याप्त समय एवं श्रम चाहिए पर गुलदस्ता हमारे समक्ष वनस्थली के चुनिन्दा सौन्दर्य को अल्प समय एवं श्रम में प्रकट कर देता है"।[1] स्पष्ट है कि वनस्थली की तुलना में गुलदस्ते का सौन्दर्य ही महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् रसव्यन्जना की दृष्टि से प्रबन्ध-काव्यों की अपेक्षा मुक्तक ही श्रेष्ठ है। इसी दृष्टि से डॉभोलाशंकरव्यास

- -

1. संस्कृत कवि दर्शन" पृष्ठ 535-36

ने मुक्तकों के प्रसङ्ग में लिखा है,"मुक्तक के एक-एक पुष्पस्तबक में मन को रमाने की अपूर्व क्षमता होती है।······· मुक्तक का रस चाहे कुछ छींटे ही हो, जिनसे कुछ देर के लिए हृदय-कलिका खिल उठती है, पर ये ही वे तुषाराकण हैं, जो हृदय की कलिका में पराग का संचार कर मानव जीवन को सुरभित बनाते रहते हैं। मानव के घात-प्रतिघातमय कटु जीवन के फफोलों पर मलहम का काम कर ये मुक्तक,उन फफोलों की खुजली को, भले ही कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, शान्त कर देते हैं। चित्त को रमाने की जो अपूर्व क्षमता सफल मुक्तक काव्यों में देखी जाती है वह प्रबन्धकाव्यों में नहीं।"

मुक्तक काव्य की विशेषताएँ

मुक्तक काव्य की उपर्युक्त समीक्षा से इसकी कुछ विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

§1§ मुक्तक काव्य के प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होते हैं।

§2§ भाषा की सामर्थ्य शक्ति का उनमें बहुत प्रयोग होता है।

§3§ सीमित परिवेश के कारण रस के सभी उपादानों का वर्णन नहीं होता है।

§4§ सीमित परिवेश के कारण श्रोता या पाठक को प्रत्येक श्लोक द्वारा आनन्दित करने के लिए इनमें अभिव्यक्ति सौन्दर्य का विधान किया जाता है।

§5§ इनमें भाव-वैभव एवं कलात्मक सामग्री का मणि - काञ्चन संयोग होता है।

§6§ गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति के कारण इनमें समास शैली का प्रयोग किया जाता है।

§7§ पाठक को आनन्द विभोर करने के लिए इनमें श्रृङ्गार रस का प्रयोग किया जाता है। श्रृंगार रस को रसराज कहा जाता है। यह जीवन को वास्तविकता से सम्बद्ध है, अतः श्रृंगार के दोनों पक्षों को मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है।

§8§ संस्कृत-मुक्तकों में प्रकृति के बाह्य एवं अन्तः दोनों रूपों का चित्रण होता है। मानव के सुख-दुख में प्रकृति भी सुख दुःख का अनुभव करती है। कहीं पर प्रकृति आलम्बन विभाव होती है तो कहीं पर उद्दीपन।

§9§ सहृदय-संवेद्यता, जीवन की मार्मिक अनुभूति, सुख-दुख का सजीव चित्रण, प्रसाद और विषाद का विशद वर्णन, जीवन की वास्तविकता की सुन्दर अभिव्यक्ति, इन काव्यों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

§10§ शृङ्गार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है।

मुक्तक काव्य के भेद

मुक्तक-विषयक काव्यशास्त्रीय समीक्षा से यह विदित होता है कि इसमें स्वरूप विषयक एकरूपता के होते हुए भी भेद-विषयक विभिन्नता देखने को मिलती है। यथा-दण्डी, मुक्तक के केवल चार भेद मानते हैं - मुक्तक, कुलक, कोश और संघात।[1] अग्निपुराण में इसके कलाप, पर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक एवं मुक्तक आदि भेद किये गये हैं।[2]

---

1. " मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः "।

काव्यादर्श 1/13

2. मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्
द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम् ।
चतुर्भिस्तु कलापं स्यात्, पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥

- अग्निपुराण

ध्वन्यालोककार ने मुक्तक काव्य के छः भेद किये हैं – मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और पर्यायबन्ध।[1] इसमें प्रथम स्थान "मुक्तक" काव्य को ही दिया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसके निम्नलिखित भेद किया है–

मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक एवं संघात।[2] अन्त में आचार्य विश्वनाथ ने मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक, एवं कोश के रूप में छः भेद किये हैं।[3]

- -

1· " यतः काव्यस्य प्रभेदाः मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, सन्दानितकविशेषक कलापककुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथे, सर्गबन्धोऽभिनेयार्थ, आख्यायिकाकथे, इत्येवमादयः।"

–ध्वन्यालोक 3/63 पर वृत्ति

2· "मुक्तकसंदानितक विशेषककलापककुलक पर्यायकोशप्रभृत्यनिबद्धम्"।

– काव्यानुशासन 8/10 पर वृत्ति

3· छन्दोबद्धं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम्

द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।

कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।।

– साहित्य दर्पण, सूत्र 301, षष्ठ परिच्छेद

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संख्या, नामकरण एवं स्वरूप की दृष्टि से मुक्तककाव्यों में अत्यधिक मतभेद परिलक्षित होता है। इस मतभेद का एकमात्र कारण है - काव्यशास्त्रियों का मुक्तक के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण। इन विभिन्न मतों के अनुसार मुक्तक के समस्त शास्त्रीय भेदों की समीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

§1§ <u>मुक्तक</u>

एक ही छन्द में समाप्त होने वाला श्लोक मुक्तक कहा जाता है।[1]

आचार्य राजशेखर ने मुक्तक-संग्रह में प्रतिपादित विषय के आधार पर इसके निम्नलिखित पाँच भेद किये हैं; जो इस प्रकार हैं[2] -

- -

1. §अ§ "पद्यान्तरमुक्तकं श्लोकान्तरनिरपेक्ष एकमेव पद्यम्"।

- काव्यानुशासन 1/13 पर वृत्ति

§ब§ मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम: सताम् ।

- अग्निपुराण 337/36

§स§ "एकेन छन्दसा वाक्यार्थ समाप्तो मुक्तक यथा अमरुकस्य·····

- काव्यानुशासन 8/11 पर वृत्ति

2. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य है - काव्यमीमांसा 116-119

§3§ <u>कथोत्थ मुक्तक</u>

जिस मुक्तक में किसी प्राचीन कथा या ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया गया हो, वह कथोत्थ मुक्तक कहलाता है। यथा-

" दत्त्वा रूद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणित् किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः ।।"

यहाँ पर चूँकि कुमारगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है अतः यह कथोत्थ मुक्तक का उदाहरण है।

§4§ <u>संविधानक भूः मुक्तक</u>

जिस मुक्तक में घटना की संभावना व्यक्त की जाय वह संविधानक भूः मुक्तक कहलाता है। यथा-

" दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा -
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकंधरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा -
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।"

यहाँ नायक द्वारा एक नायिका से आँखमिचौनी करके दूसरी का चुम्बन लेने की कल्पना प्रस्तुत होने के कारण संविधानक भूः मुक्तक है।

§3§ कथोत्थ मुक्तक

जिस मुक्तक में किसी प्राचीन कथा या ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया गया हो, वह कथोत्थ मुक्तक कहलाता है। यथा-

दत्वा रूद्धगतिः स्वशाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणित् किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः ।।"

यहाँ पर चूँकि कुमारगुप्तके पिता चन्द्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है अतः यह कथोत्थ मुक्तक का उदाहरण है।

§4§ संविधानक भूः मुक्तक

जिस मुक्तक में घटना की संभावना व्यक्त की जाय वह संविधानक भूः मुक्तक कहलाता है। यथा-

" दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा -
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकंधरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा -
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।"

यहाँ नायक द्वारा एक नायिका से आँखमिचौनी करके दूसरी का चुम्बन लेने की कल्पना प्रस्तुत होने के कारण संविधानक भूः मुक्तक है।

§5§ आख्यानकवान् मुक्तक

जहाँ पर किसी आख्यान का वर्णन हुआ हो, वह आख्यानकवान् मुक्तक होता है। यथा-

" आर्थिजनार्थवृतानां वनकरिणां प्रथमकल्पितैर्दशनैः ।

चक्रे परोपकारी हैहयजन्मा गृहं शम्भोः ।।"

यहाँ सहस्रार्जुन द्वारा शिवमंदिर के निर्माण का आख्यान वर्णित किया गया है, अतः यह आख्यानकवान् मुक्तक का उदाहरण है।

§ 2§ युग्मक

जिस पद्य का अर्थ दो पद्यों द्वारा पूर्ण हो, युग्मक कहलाता है।[1] "आचार्य आनन्दवर्धन" एवं "हेमचन्द्र" इसे संदानितक की संज्ञा देते हैं।[2]

- -

1. " द्वाभ्यां युग्मकम्.............

- साहित्य दर्पण 6/314

2. " द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सान्दानितकम्"

- ध्वन्यालोक लोचन 3/63

इसी प्रकार द्रष्टव्य है- काव्यानुशासन 8/11 पर वृत्ति

§3§ सान्दानितक

जिस अनिबद्ध काव्य की रचना तीन श्लोकों में पूर्ण होती है, उसे सान्दानितक कहते हैं।[1] लोचनकार एवं काव्यानुशासनकार इसे "विशेषक" की संज्ञा से अभिहित करते हैं।[2]

§4§ कलापक

अर्थ की परिपूर्णता की दृष्टि से चार श्लोकों में पूर्ण होने वाले काव्य को कलापक कहते हैं।[3]

§5§ कुलक

श्लोक पंचक में भाव को पूर्ण करने वाला अनबिद्ध काव्य कुलक कहा जाता है।[4] पाँच से अधिक श्लोक समूह को भी अन्य लेखक कुलक ही कहते हैं।[5]

---

1. " सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते" -

- साहित्य दर्पण 6/324

2. " त्रिभि विशेषकम् "

- ध्वन्यालोक लोचन 3/63

3. कलापकं चतुर्भिश्च....... साहित्य दर्पण 6/314

इसी प्रकार द्रष्टव्य है- काव्यानुशासन 8/11 पर वृत्ति

4. "पन्चभि: कुलकं मतम्" - साहित्य दर्पण 6/319

5. " पन्चादिभिर्चतुर्दशान्तै: कुलकम्" - काव्यानुशासन 8/12

" पन्चप्रभृतिभि: कुलकम्"

- ध्वन्यालोक लोचन 3/63

§6§ कोश

परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले पद्यों के संग्रह को कोश कहते हैं। यह कोश तभी सुन्दर लगता है जबकि इसमें सजातीय पद्य एक ही स्थान पर संगृहीत हुए हों।[1] आचार्य हेमचन्द्र अपर कवियों के परस्पर निरपेक्ष पदों के संग्रह को भी कोश कहते हैं।[2]

§7§ पर्यायबन्ध

जिसमें बसन्त आदि एक ही विषय का वर्णन हो वह पर्यायबन्ध कहलाता है।[3]

---

1. " कोशःश्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ।
   व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।।"
   - साहित्य दर्पण 6/329

   "अन्योन्यनिरपेक्षाणां श्लोकानां कोशः"।
   - काव्यानुशासन 1/3 पर वृत्ति

2. "परकृतसूक्तिसमुच्चयः कोशः।"
   - काव्यानुशासन 8/13

3. §1§ मुक्तकानामेकप्रथ कोपनिबन्धः पर्याय । काव्यानु0 8/12 पर वृत्ति
   §2§ अवान्तर क्रियायासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादिरनेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। - ध्वन्यालोक लोचन 3/53

(8) संघात

एक कवि द्वारा एक विषय पर लिखे गये मुक्तकों के समूह को संघात कहा जाता है।[1]

(9) प्रघट्टक

एक कवि द्वारा रचित मुक्तकों का समुच्चय ही प्रघट्टक है।[2]

(10) विकर्णक

अनेक कवियों द्वारा रचित छन्दों का संग्रह विकर्णक कहलाता है।[3]

---

1. एकेनैव वृत्तेन परिमितस्यार्थस्य कथावस्तुभागस्य वावर्णनम् ।

   - काव्यानुशासन 1/13 पर वृत्ति

2. प्रघट्टके एककविकृतः सूक्तिसमुदायः ।

   - काव्यानुशासन 8/13 पर वृत्ति

3. विप्रकीर्णवृत्तान्तानामेकत्रसंघानं संहिता ।

   - काव्यानु0 8/13 पर वृत्ति

इस प्रकार हम देखते है कि शास्त्रीय मीमांसा के क्षेत्र में अनिबद्ध काव्य की पर्याप्त विवेचना हुई है। इसके स्वरूप-निर्धारण में समानता होते हुए भी भेदों की दृष्टि से पर्याप्त मतभेद है। आचार्य दण्डी जहाँ इसके चार ही भेद मानते हैं वहीं अग्निपुराणकार एवं ध्वन्यालोककार इसके छः भेदों को स्वीकार करते हैं। अन्त में आचार्य हेमचन्द्र आगे चलकर इसे नौ भागों में विभक्त करते हुए कहते हैं कि यहाँ तो केवल दिग्दर्शन के लिए यह भेद प्रदर्शित किया गया है; वैसे तो इसके विभिन्न स्वरूपों के कारण इनकी गणना असम्भव है।[1]

मुक्तक काव्यों के उपर्युक्त स्वरूप - विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य गोवर्धनकृत आर्यासप्तशती ब्रज्या पद्धति में रचित कोश श्रेणी का मुक्तक काव्य है।[2]

- -

1. " एवमनन्तोऽनिबद्धगण: स आदिग्रहणेन गृह्यते ।"

– काव्यानुशासन 8/13 पर वृत्ति

2. " अन्योन्यानपेक्षक: , परस्परापेक्षानिरपेक्षक: श्लोकसमूहस्तु रत्नसदृशश्लोककदम्ब-धारणात् कोश:। ब्रज्याक्रमेण अकारादिहकारान्ताक्षरश्लोकसंघातक्रमेण रचित: एव स कोश: अतिमनोरमा स्यात्। तथा च ब्रज्याघटित: एक: प्रकारस्तदतिरिक्तो द्वितीय: इति द्विविध: कोश:। तत्राद्यस्योदाहरणम् आर्यासप्तशत्यादय: । द्वितीयस्य सुभाषितावलिप्रभृतय: इति।।"

– साहित्यदर्पण 6/329 पर लक्ष्मीटीका

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि व्रज्या पद्धति में तो एक ही जाति के मुक्तकों का संग्रह किया जाता है तो यहाँ सजातीय का क्या तात्पर्य है ? यदि सजातीय का अर्थ समान विषयों से सम्बद्ध मुक्तकों से ग्रहण किया जाय तो आर्यासप्तशती व्रज्या पद्धति से रचित नहीं मानी जा सकेगी क्योंकि यहाँ विभिन्न व्रज्याओं में विभिन्न विषयों से सम्बद्ध आर्याओं का संग्रह किया गया है। वस्तुत: यहाँ पर व्रज्या पद्धति का तात्पर्य समान छन्द में रचित समान अक्षर से प्रारम्भ होने वाले मुक्तक-संग्रह से ग्रहण करना होगा समान छन्दबद्ध एवं समान अक्षर से प्रारम्भ होने वाला मुक्तक संग्रह। तभी तो आर्यासप्त-शती में अकारादिक्रम से व्रज्याओं का विधान किया गया है और समान अक्षर से प्रारम्भ होने वाली सभी गाथाओं को चाहे उनका प्रतिपाद्य विषय कुछ हो, एक व्रज्या के अन्तर्गत रखा गया है ।

---

1. सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या ।

– साहित्य दर्पण

" मुक्तक काव्यों की संख्यापरक नामकरण परम्परा "

संस्कृत-साहित्य में अनिबद्ध काव्यों की संख्या के आधार पर नामकरण की एक सुविस्तृत परम्परा रही है। कोषकार के लिए किसी संख्या विशेष का बन्धन नहीं। वह अपनी इच्छानुसार कितने ही पद्यरत्नों का संग्रह अपने कोष में कर सकता है। यही कारण है कि मुक्तक संग्रह की कोई निश्चित संख्यापरक पद्धति नहीं दीखती है। कुछ मुक्तक काव्य पाँच पद्यों के तो कुछ आठ एवं नव के तथा कुछ सौ एवं सात सौ आदि के दिखाई पड़ते हैं। संक्षेप में संख्यापरक मुक्तक काव्यों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है-

पंचक संज्ञक मुक्तक काव्य

पाँच पद्यों के समूह को पंचक काव्य कहा गया है यथा - श्रृंगराचार्य का "कल्याणी पंचक", वेदान्तदेशिक एवं वेङ्कटनाथ का "वैराग्यपंचक", नारायणभट्टपर्णकर का मुकुन्दनीति पंचक, नीलकण्ठ तीर्थपाद को "स्वराज्य लक्ष्मी पंचक:" एवं महालिङ्ग शास्त्री का "जार्ज पन्चक" । स्वामी श्री श्रीशङ्कराचार्य का "ललितापन्चकम्" आदि।

सप्तक संख्यक काव्य

इस प्रकार के मुक्तकों की परम्परा में इलय ताम्बरान का "श्रीपादसप्तकम्" एवं ए0आर0राजवर्म का "मुद्रासप्तक" आदि उल्लेखनीय है।

अष्टक संज्ञक काव्य

आठ पद्यों के संग्रह को अष्टक काव्य कहा गया है। उदाहरण के लिए मयूर कवि का श्रृंगार-रस के आठ पद्यों को कोष "मयूराष्टक", जीवगोस्वामी का "जाह्नव्याष्टकम्"; कृष्णकविराज का "राधाष्टकम्", श्रीपतिठाकुर का "विक्टोरियाष्टकम्" रामवारियर का "व्यासाष्टकम्" शङ्कराचार्य का "शिवाष्टकम्" "श्रीगंगाष्टकम्", अम्बाष्टकम् यमुनाष्टकम्; कृष्णाष्टकम् एवं "पाण्डुरंगाष्टक"; श्री वल्लभाचार्य को "मधुराष्टकम्" आदि द्रष्टव्य है।

नवक संज्ञक काव्य

नव संख्या के आधार पर नामाङ्कित काव्यों में नीलकण्ठ तीर्थपाद का "हरिनवकम्" एवं सुब्रह्मण्यम अय्यर का श्रीमदाचार्य "नवरत्नमाला" आदि द्रष्टव्य है।

दशक संज्ञक काव्य

दश संख्या के आधार पर नामाङ्कित काव्यों की कोटि में नरसिंहाचार्य का "वेदान्तदशकम्"; नारायणभट्ट का "कल्याणदशकम्"; एवं शङ्कराचार्य का " अन्नपूर्णदशकम्" आदि का नाम उल्लेखनीय है ।

पन्चदशी संज्ञक काव्य

इस प्रकार के काव्यों में महाकवि उल्लूर की "पन्चदशी" एवं तेजोभानु की "विप्रपन्चदशी" आदि के नाम उल्लेखनीय है।

पन्चाशिका संज्ञक काव्य

मुक्तक-काव्यों की रचना परम्परा में "पंचाशिका" संज्ञा लोप्रिय रही है । इसकी लोकप्रियता के कारण ही इस कोटि के अनेक काव्य सृजित हुए है। उदाहरणार्थ- विल्हण की "चौरपन्चाशिका"; कृष्णमणि श्रीनिवास की "कुचपन्चाशिका" रत्नाकर की "वक्रोक्ति पन्चाशिका"; लक्ष्मणाचार्य की "चण्डीकुचपन्चाशिका";क्षेमेन्द्र की "पवन पन्चाशिका"; एवं अप्पयदीक्षित की "शिवपन्चाशिका" आदि उल्लेखनीय हैं।

शतक काव्यों की परम्परा

छठीं, सातवीं शताब्दी से लेकर सोलहवींशताब्दी तक के संस्कृत-मुक्तक-संग्रहों को देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत में शतक लिखने की परिपाटी अधिक थी। प्रायः शतक काव्यों के नामकरण में प्रतिपाद्य विषय को ही मुख्य रूप से लक्ष्य बनाया गया है।तथा अधिकांश काव्यों में देवी देवताओं की स्तुति की गयी है इसलिए स्तुत्यदेव के आधार पर ही काव्य का नामकरण किया गया है। उदाहरण के लिए वेङ्कटनाथ का "अष्टभुजाशतक" वेदान्तदेशिक का "अच्युतशतक";बाणभट्ट का "चण्डीशतक";एवं मयूर का "सूर्यशतक" आदि।

चूँकि मुक्तक-काव्यों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय श्रृंगार रस रहा है; अस्तु इनके अन्तर्गत नारी के विभिन्न अंगों का चित्रण हुआ है। यही कारण है कि नारी के सौन्दर्य-परक अंगों के आधार पर भी कुछ काव्यों का नामकरण हुआ है। इस प्रकार के काव्यों में वरदकृष्णमाचार्य का "कचशतक" आत्रेय श्रीनिवास का "कुचशतक", विश्वेश्वर पाण्डेय का "वक्षोज शतक" एवं विद्यासुन्दर का "रोमावलीशतक" आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के शतकों के नाममात्र से ही श्रृङ्गारिकता का बोध हो जाता है।

संस्कृत में शतकों के नामकरण की एक और महत्त्वपूर्ण पद्धति विकसित हुई है जिसके अन्तर्गत सामाजिक विषयों को लक्ष्य करके शतकों का नामकरण किया गया है। उदाहरण के लिए विश्वेश्वर पाण्डेय का "होलिकाशतक" तथा वरदकृष्णमाचार्य का "विधवा शतक" आदि।

कुछ शतक रचयिताओं ने छन्दों को आधार पर नामकरण किया है। इस प्रकार के शतक के रूप में विश्वेश्वर पाण्डेय का "आर्याशतक" द्रष्टव्य है।

कुछ मुक्तककारों ने शतकों के उपर्युक्त नामकरण की परम्परा को छोड़कर अपने नाम पर ही काव्य का सृजन किया है। इस परम्परा में अमरूक कवि का "अमरूकशतक" मयूर कवि का "मयूरशतक" एवं भल्लट कवि का "भल्लटशतक" आदि उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार मुक्तक काव्यों में श्रृंगार नीति, एवं वैराग्य-चित्रण की एक विस्तृत परम्परा विद्यमान रही है और प्रायः इसी आधार पर उनके नामकरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है-'भर्तृहरि ब्रजलाल, जनार्दन, नरहरि एवं ब्रजराज के '"श्रृंगार शतक"। वेंकटराय श्री निवासार्य एवं'भर्तृहरि के "नीतिशतक" एवं अप्पयदीक्षित, जनार्दन, नीलकण्ठ;भर्तृहरि, शङ्कराचार्य, सोमनाथ एवं पद्मानन्द के "वैराग्यशतक"। इस प्रकार शतक काव्यों की परम्परा एवं उनके नामकरण की विभिन्न पद्धतियों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

यहाँ पर सबसे ध्यातव्य तथ्य यह है कि मुक्तक काव्य के रूप में हमें सर्वप्रथम "शतकत्रयं" के प्रणेता'भर्तृहरि या "अमरूकशतक" के रचयिता अमरूक का नाम लेना पड़ता है। यह तथ्य शतक काव्यों की महत्ता को बढ़ा देता है।'भर्तृहरि एवं अमरूक ने अपनी रचनाओं के माध्यम से लोक जीवन के व्यवहार की अनेक विधाओं की झाँकी प्रस्तुत किया है ।इन शतकों के छन्दों को लक्षण-ग्रन्थों में भी'उद्धृत किया गया है। मम्मट जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ने अपने काव्यप्रकाश में इनके छन्दों को'उद्धृत किया है। भावप्रवणता एवं रसचर्वणा की दृष्टि से अमरूक कवि ने प्रबन्धकाव्यों को भी बहुत पीछे छोड़ दिया है। अमरूक के एक-एक श्लोक के रस प्रवाह में सैकड़ों प्रबन्धकाव्यों को प्रवाहित किया जा सकता है।[1]

---

1. " यथा ह्यमरूकस्य कवेः मुक्तकाः श्रृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।" §ध्वन्यालोक 3/7 पर वृत्ति§

आरूक शतक के प्राचीनतम व्याख्याकार अर्जुनवर्मदेव ने भी कहा है-"अमीषां श्लोकानां तावती रसोपकरणसामग्री यावती प्रबन्धेषु भवति।"

अत एवोक्तं भरतटीकाकारैः-" अमरूककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।"इति§रसिकसन्जीवनी,पृ02"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लौकिक संस्कृत में मुक्तक काव्य का प्रारम्भ शतक काव्य से ही होता है।

त्रिशती संज्ञक काव्य

इस परम्परा के काव्यों में सुन्दरेश्वर की "श्रीकण्ठत्रिशती" एवं सोमराज दीक्षित तथा व्रजराज की "आर्यात्रिशती" उल्लेखनीय है।

पन्चशती संज्ञक काव्य

इस काव्य की रचना-परम्परा में मूक कवि द्वारा दुर्गा की स्तुति में लिखी गयी "मूकपन्चशती" का नाम विख्यात है।

"सप्तशती संज्ञक काव्य एवं उनकी रचना-परम्परा"

मुक्तक - काव्यों के इतिहास में सप्तशती संज्ञक काव्यों का अत्यन्त महत्त्व रहा है। सप्तशती संज्ञक काव्यों की रचना-परम्परा में विविध विषयों के आधार पर उनका आचरण हुआ है। इस परम्परा में रचित कुछ प्रमुख काव्य इस प्रकार हैं- महाकवि परमानन्द की "श्रृंगार सप्तशती" एवं कुछ अज्ञातनामा कवियों की "मुक्तिसप्तशती" एवं "भक्तिसप्तशती" आदि।

सप्तशती रचना-परम्परा में स्तुत्य देव को लक्ष्य करके नामकरण की भी अपनी एक अलग परम्परा रही है। इस परम्परा में "दुर्गासप्तशती"[1] उल्लेखनीय है। यद्यपि महाभारत

---

1. दुर्गासप्तशती मूलतः मार्कण्डेय पुराण का अंश है।

अन्तर्गत गीता में भी सात सौ ही श्लोक है, किन्तु ये मुक्तक-संग्रह नहीं है। इससे इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि केवल सात सौ श्लोकों का संग्रह मुक्तक नहीं कहा जा सकता। चूँकि गीता के श्लोक पूर्वापरनिरपेक्ष नहीं हैं;अस्तु इसे मुक्तक काव्य नहीं कहा जा सकता है। मुक्तक में पूर्वापरनिरपेक्षता आवश्यक है।

इसी सरणि में महाकवि हाॅल की "गाहासत्तसई" आती है। यह सत्तसई प्राकृत भाषा में अनेक कवियों के गाथाओं के संग्रह के रूप में जानी जाती है। हाॅल ने "गाहासत्तसई" में स्वयं इसे स्वीकार किया है कि यह विभिन्न कवियों के विभिन्न मुक्तकों का संग्रह है।[1]

महाकवि हाॅल की गाथासप्तशती से प्रेरित होकर, मुक्तक -काव्यों की परम्परा "आर्या" छन्द के आधार पर सप्तशती की रचना-परम्परा प्रस्फुटित हुई।।

- -

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।

हालेण विरइआइं सालङ्काराणं गाहाणं ।।

– गाथासप्तशती 1/3

" आर्यासप्तशती का रूप-विधान "

सप्तशती संज्ञक मुक्तक-काव्य परम्परा में "आर्यासप्तशती" "गाथासप्तशती" के अनन्तर सर्वाधिक प्रशस्थ कृति मानी जाती है। "आर्यासप्तशती" संस्कृत भाषा की सर्व-प्रथम सप्तशती संज्ञक काव्य-रचना है; इसके पूर्व प्राकृत भाषा में "गाहासत्तसई" सतसई परम्परा की प्रारम्भिक रचना थी। स्पष्ट है कि " आर्यासप्तशती" का ढाँचा "गाहा-सत्तसई" की परम्परा से बहुत साम्य रखता है। आचार्य गोवर्धन ने "गाहासतसई " से केवल श्रृंङ्गार- वर्णन की ही प्रेरणा नहीं ली है; अपितु अनेक भावों का भी सप्रसंग अनुवाद किया है। इसे गाथासप्तशती से "आर्यासप्तशती" की तुलना करते समय स्पष्ट किया गया है। यही कारण है कि छन्द के नाम से रचना का नाम रखा गया है। इसके पूर्व गाथा में भी एकमात्र "गाहा" छन्द तथा संस्कृत के "आर्या" छन्द में कोई भेद नहीं है। इन सबके बाद भी "आर्यासप्तशती" के रूप-विधान की कुछ अपनी अलग की विशेषता है। आर्यास-प्तशती में व्रज्या विषयक अवधारणा बहुत महत्त्व रखती है। यद्यपि उसके पूर्व जयवल्लभकृत "वज्जालग्गं" में यह अवधारणा दिखाई पड़ती है। "वज्जालग्गं" में वर्ण्य-विषय को व्रज्या-पद्धति के रूप में सजाया गया है। एक विषय से सम्बन्धित समस्त गाथाओं को एक ही वज्जा पद्धति में रखा गया है। इसके विपरीत "आर्यासप्तशती" में व्रज्या-विषयक अवधारणा को एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर अकारादि, आकारादि एवं उकारादि आदि व्रज्या क्रम से व्रज्याओं की योजना की गयी है। यहाँ पर व्रज्या का निर्धारण विषयों के आधार पर नहीं अपितु वर्णों के क्रमानुसार किया गया है।

"आर्यासप्तशती" का ढाँचा निम्नवत द्रष्टव्य है- सर्वप्रथ 53 आर्या छन्दों के रूप में ग्रन्थारम्भ प्रज्या तत्पश्चात् 702 आर्या छन्दों का अकारादि प्रज्या क्रम में निर्धारण। यह अकारादि प्रज्या क्रम इस प्रकार है -

अ0प्र0 = 1 से 73 आर्या तक

आ0प्र0 = 74 से 106 तक

इ0प्र0 = 107 से 113 तक

ई0प्र0 = 114 से 116 तक

उ0प्र0 = 117 से 138 तक

ऊ0प्र0 = 139 ǁकेवल एक ही आर्या छन्दǁ

ऋ0प्र0 = 140 से 141 तक

ए0प्र0 = 142 से 149 तक

क0प्र0 = 150 से 192 तक

ख0प्र0 = 193 ǁकेवल एक आर्या छन्दǁ

ग0प्र0 = 194 से 217 तक

घ0प्र0 = 218 से 220 तक

च0प्र0 = 221 से 232 तक

छ0प्र0 = 233 से 234 तक

ज0प्र0 = 235 से 245 तक

ड0प्र0 = 246 (केवल एक आर्या)

ढ0प्र0 = 247 (केवल एक आर्या)

त0प्र0 = 248 से 275 तक

द0प्र0 = 276 से 303 तक

ध0प्र0 = 304 से 307 तक

न0प्र0 = 308 से 345 तक

प0प्र0 = 346 से 402 तक

ब0प्र0 = 403 से 410 तक

भ0प्र0 = 411 से 426 तक

म0प्र0 = 427 से ~~481~~ 461 तक

य0प्र0 = ~~490~~ 462, से ~~583~~ 489 तक

र0प्र0 = 490 से ~~489~~ 503 तक

ल0प्र0 = 504 से 512 तक

व0प्र0 = 513 से 562 तक

शा0प्र0 = 563 से 586 तक

ष0प्र0 = 587 (केवल एक आर्या)

स0प्र0 = 588 से 685 तक

ह0प्र0 = 686 से 693 तक

क्ष0प्र0 = 694 से 696 तक

इसके बाद 697 से 702 आर्या तक कवि ने उपसंहार प्रस्तुत किया है।

इस कृति की अपनी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें 54 श्लोकों का एक दीर्घ प्राक्कथन प्रस्तुत किया गया है। इन 54 श्लोकों के अन्तर्गत आचार्य गोवर्धन ने अपने इष्ट देवताओं की स्तुति; कालिदासादि पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा; काव्य-विषयक मान्यता आदि को दर्शाया है। इसके पश्चात् 1 से 702 आर्या छन्दों में अपने वर्ण्य विषय का प्रतिपादन किया है। "आर्यासप्तशती" के विषय में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यह एक ही कवि की कृति है। इसमें "गाथा" तथा "वज्जालग्ग" के समान अनेक कवियों के छन्दों का संग्रह नहीं हुआ है। यह रहा आर्यासप्तशती का रूप-विधान एवं विशेषता।

0 0 0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0
0
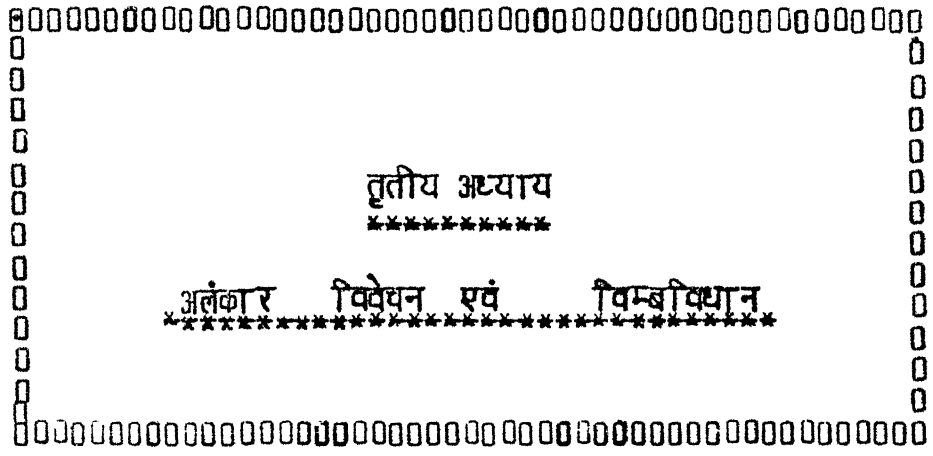
तृतीय अध्याय

अलंकार विवेचन एवं बिम्बविधान

अलङ्कार-विवेचन

काव्य की सहजात शोभा के उत्कर्ष की दृष्टि से काव्याङ्गों में अलङ्कार का अपना स्थापित महत्त्व है। अलंकारों में भी काव्य की दृष्टि से उन अलंकारों का विशेष महत्त्व है जो काव्यरचना के क्षणों में जलप्रवाह के सदृश कविता में स्वयं खिंचते हुए बिना किसी प्रयास के स्वतः आ जाते हैं।[1] ऐसे अलंकार अयत्नज कहलाते हैं, जिसके लिए रचनाधर्मी को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत जब रचनाकार प्रयासपूर्वक अपनी कविता में अलंकार लाना चाहता है तो वहाँ अलंकार के ही प्रधान होने के कारण काव्य का मूलस्वर मन्द पड़ जाता है ; और वह सम्पूर्ण रचना अलंकार प्रधान होने के कारण चित्रकाव्य की कोटि में आ जाती है जो अधम कोटि का काव्य है। अयत्नज अलंकारों में अन्योक्ति,अर्थान्तरन्यासादि ऐसे अलंकार हैं जो कविता में अयत्नज रूप से उपस्थित होने पर एक अपूर्व विच्छित्ति बिखेर देते हैं।काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व रस है। फलतः काव्य में रसप्रवणता की स्थिति उसके काव्यत्व की प्रथम शर्त है; और यदि उसके साथ अयत्नज अलंकार भी हों तो फिर कहना ही क्या ? किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि जो कविता आभीर कन्या के सदृश अंग-प्रत्यंग रस से सराबोर हो अथवा ऋषिकन्या तन्वी शकुन्तला के समान रसध्वनि की स्मृति से विलसित हो तो फिर उसके लिए अलंकारों की क्या आवश्यकता ?

---

1. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य क्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥

ध्वन्यालोक 2/16

अलङ्कार-विवेचन

काव्य की सहजात शोभा के उत्कर्ष की दृष्टि से काव्याङ्गों में अलङ्कार का अपना स्थापित महत्त्व है। अलंकारों में भी काव्य की दृष्टि से उन अलंकारों का विशेष महत्त्व है जो काव्यरचना के क्षणों में जलप्रवाह के सदृश कविता में स्वयं खिंचते हुए बिना किसी प्रयास के स्वत: आ जाते हैं।[1] ऐसे अलंकार अयत्नज कहलाते हैं, जिसके लिए रचनाधर्मी को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत जब रचनाकार प्रयासपूर्वक अपनी कविता में अलंकार लाना चाहता है तो वहाँ अलंकार के ही प्रधान होने के कारण काव्य का मूलस्वर मन्द पड़ जाता है ; और वह सम्पूर्ण रचना अलंकार प्रधान होने के कारण चित्रकाव्य की कोटि में आ जाती है जो अधम कोटि का काव्य है। अयत्नज अलंकारों में अन्योक्ति,अर्थान्तरन्यासादि ऐसे अलंकार हैं जो कविता में अयत्नज रूप से उपस्थित होने पर एक अपूर्व विच्छित्ति बिखेर देते हैं।काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व रस है। फलत: काव्य में रसप्रवणता की स्थिति उसके काव्यत्व की प्रथम शर्त है; और यदि उसके साथ अयत्नज अलंकार भी हों तो फिर कहना ही क्या ? किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि जो कविता आभीर कन्या के सदृश अंग-प्रत्यंग रस से सराबोर हो अथवा ऋषिकन्या तन्वी शकुन्तला के समान रसध्वनि की स्मृति से विलसित हो तो फिर उसके लिए अलंकारों की क्या आवश्यकता ?

---

1. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्य क्रियो भवेत् ।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत: ।।

काव्य में अलंकारों का तो महत्त्व है किन्तु केवल उन्हीं अलंकारों का है जो अयत्नज हैं और काव्यगत सहज सौन्दर्य के उत्कर्षक हैं। संभवत: गोवर्धनाचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं; क्योंकि ये काव्य में व्यङ्ग्यार्थ को ही अधिक महत्त्व देते हैं और इउसकी तुलना में अलंकारों को गौण मानते हैं। उसकी पुष्टि में उन्होंने अपनी कृति में स्वयं कहा है कि अनुप्रासादि शब्दालंकारों से रहित , एवं सदोष पदों से युक्त भी सूक्ति(काव्य) यदि तत्काल रसप्रतीति करा देती है और उत्कृष्ट श्रृङ्गाररस संभृत है तो वह, शब्द करने वाले भूषणों से रहित(संकेत-स्थल तक शीघ्र पहुँचने के लिए आतुर) लड़खड़ाते पग रखती, नायक के प्रति अनन्य रतिभाव रखने वाली कलभाषिणी अभिसारिका की भाँति मन को आनन्द देती है।[1] इसी प्रकार पुन: कहते हैं- व्यङ्ग्यार्थशून्य तथा केवल अनुप्रासादिशब्दालंकारों के लिए ही विन्यस्त पदों वाला काव्य एवं शिञ्जितरहित तथा केवल पैर में संलग्न,कसा नूपुर ये दोनों क्रमश: विद्वत्सभा में और सुरतवेला में हृदय अथवा कानों को मस्त नहीं बनाते ।[2] फिर भी इनकी प्रस्तुत कृति में अलंकारों का भरपूर प्रयोग हुआ है और ये समस्त अलंकार अयत्नज कोटि में ही रखे जा सकते हैं।

---

1. अकलितशब्दालंकृतिरनुकूला स्खलितपदनिवेशापि ।
अभिसारिकेव रमयति सूक्ति: सोत्कर्षश्रृङ्गारा ।।
- आ० स० ग्र० प्र० 47

2. अध्वनि पदग्राहपरं मदयति हृदयं न वा न वा श्रवणम् ।
काव्यमभिज्ञसभायां मञ्जीरं केलिवेलायाम् ।।
- आ० स० ग्र० प्र० 48

गोवर्धनाचार्य ने अपनी कृति में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का पर्याप्त प्रयोग किया है। शब्दालंकार के अन्तर्गत अनुप्रास तथा श्लेष का अधिक प्रयोग किया है; यमक अलंकार का प्रयोग तो बहुत कम किया है। वैसे तो शब्दालंकार के प्रयोग में ही कवि ने कंजूसी दिखाई है।

अनुप्रास अलङ्कार-

वर्णों अर्थात् व्यन्जनों का जो सादृश्य है उसे "अनुप्रास" कहते हैं।[1] यहाँ वर्णसाम्य का अभिप्राय है स्वरों के असमान अथवा विसदृश होने पर भी व्यन्जन-सादृश्य का होना क्योंकि "अनुप्रास" कहते हैं (व्यन्जनों की) ऐसी आवृत्ति को जिसमें बहुत व्यवधान न हो और जो रसभावादि के अनुकूल हो। यहाँ उदाहरण के रूप में एक आर्या छन्द द्रष्टव्य है-

भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।।[2]

प्रस्तुत आर्या के पूर्वार्द्ध में "भूधरभूरेव भारती भाति" में "भ" वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास अलंकार है।

आचार्य गोवर्धन ने कहीं-कहीं अनुप्रास का प्रयोग भावव्यन्जना, वर्ण्यवस्तु एवं उसकी व्यापार चेष्टा के प्रदर्शन के लिए किया है। व्यन्जक शब्दों में ही अनुप्रास निहित है,

---

1. वर्णसाम्यमनुप्रासः ।-काव्यप्रकाश 9/103
2. आ० स० 36

रस अथवा भाव-व्यंजना एवं वस्तुबोध में अनुपकारक शब्दों को केवल शोभामात्र के लिए नहीं प्रयुक्त किया गया है। कहीं-कहीं तो शब्दों से भावाव्यन्जना का कार्य लिया ही गया है, तदन्तर्गत अनुप्रास से भी माधुर्य तथा सौन्दर्य का सम्पादन ही नहीं, अपितु वर्ण्य वस्तु एवं उसके व्यापार चेष्टा का आभास भी करा दिया गया है। यथा-

आन्दोललोलकेशीं चलकान्चीकिङ्किणीगणक्वणिताम् ।

स्मरसि पुरुषायितां तां स्मरचामरविल्लयष्टिमिव ।।[1]

यहाँ पर विपरीतरतिसंलग्ना नायिका का चित्रण हुआ है। कवि ने "आन्दोललोलकेशीम्" अनुप्रासयुक्त पद से नायिका की केशचन्चलता का तथा "चलकान्चीकिंकणीगण-क्वणिताम्" सानुनासिक व्यन्जन समुदाय से नायिका की विपरीतरति के क्रम के किंकणी की झनकार का नाद-सौन्दर्य उत्पन्न किया है।

इसी प्रकार भावव्यन्जना से ओतप्रोत अनुप्रास का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

आनयति पथिकतरुणं हरिण इह प्रापयन्निवात्मानम् ।

उपकलमगोपि कोमलकलमावलिकवलनोत्तरलः ।।[2]

यहाँ पर "कोमलकलमावलिकवलनोत्तरलः" पद में जहाँ कोमल कलमों के भक्षण को हरिण की आतुरता व्यक्त कर रहा है, वहीं अपने वर्णों के उचित क्रम के कारण उसकी चरने की शीघ्रता भी व्यंजित कर रहा है।

---

1. आ० स० 85

2. आ० स० 101 ।

वृत्त्यनुप्रास-

वृत्त्यनुप्रास वह है जिसका रूप है एक अथवा एक से अधिक व्यन्जन का एक से अधिकबार सादृश्य।[1] आर्यासप्तशती में वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण प्राप्त होते हैं। यहाँ पर एक उदाहरण प्रस्तुत है-

चलकुण्डलचलदलकस्खलदुरसिजवसनसज्जदूरयुगम् ।
जघनभरक्लमकूणितनयनमिदं हरति गतमस्या: ।।[2]

इस उदाहरण के पूर्वार्द्ध "चलकुण्डलचलदल .... में वृत्त्यनुप्रास है ; क्योंकि यहाँ पर "ल" व्यन्जन में एक से अधिक बार सादृश्य है।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

स्वयमपि भूरिच्छिद्रश्चापलमपि सर्वतोमुखं स तन्वन् ।
तितउस्तुषस्य पिशुनो दोषस्य विवेचनेऽधिकृत: ।।[3]

यहाँ पर "तितउस्तुषस्य" पद में "त" व्यन्जन में एक से अधिक बार सादृश्य दिखाई पड़ रहा है ; अत: यहाँ पर वृत्त्यनुप्रास है।

---

1. एकस्याप्यसकृत्पर: ।। का० प्र० सू० 106
2. आ० स० 226
3. आ० स० 43

आर्यासप्तशती में अनुप्रास के समग्र भेदों को का दर्शन नहीं होता है। यहाँ छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास के उदाहरण प्राप्त होते है। सर्वप्रथम छेकानुप्रास का निरूपण करते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार "एक से अधिक (व्यन्जन) का एक बार जो सादृश्य है, वह छेकानुप्रास है।"[1] उदाहरणार्थ-

मंगलकलशद्वयमयकुम्भमदम्भेन भजत गजवदनम् ।
यद्दानतोयतरलैस्तिलतुलनालम्बि रोलम्बैः ।।[2]

प्रस्तुत आर्या मे "म्भ" "म्भे" "तिल" "तुल" तथा "लम्बि लम्बैः" में छेकानुप्रास विद्यमान है। अतः यह छेकानुप्रास का उदाहरण है।

इसी प्रकार छेकानुप्रास को का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

रूपगुणहीनहार्या भवति लघुर्धूलिरनिलचपलेव ।
प्रथयति पृथुगुणनेया तरुणी तरणिरिव गरिमाणम्।।[3]

इस आर्या उत्तरार्द्ध में "तरुणी-तरणि" में छेकागत अनुप्रास है। इसी प्रकार के और उदाहरण प्राप्त होते हैं।[4]

- -

1. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः । का० प्र० सू० 105
2. आ० स० 28
3. आ० स० 478
4. आ० स० 8, 11 एवं 20 आदि ।

2• यमक अलङ्कार :

"यमक" अलंकार वह है जिसमें अर्थ के होने पर भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्ण अथवा वर्णसमूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति हुआ करती है।[1] यथा-

" प्रायेणैव हि मलिना मलिनानामाश्रयत्वमुपयान्ति ।

कालिन्दीपुटभेद: कालियपुटभेदनं भवति ।।[2]

प्रस्तुत उदाहरण में "पुटभेद:" तथा "पुटभेदनम्" में यमक अलंकार है ; यहाँ क्योंकि प्रथम "पुटभेद:" का अर्थ भँवर होगा। क्योंकि "चक्राणि पुटभेदा: स्यु:" इत्यमर:। तथा द्वितीय "पुटभेदनं" का अर्थ "नगर" होगा; क्योंकि "पत्तनं" पुटभेदनम् " इत्यमर: ।

इसी प्रकार यमक का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

बौद्धस्येव क्षणिको यद्यपि बहुबल्लभस्य तव भाव: ।

भग्ना भग्ना भ्रूरिव न तु तस्या विघटते मैत्री ।।[3]

यहाँ पर "भग्ना" शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है तथा दोनों का अलग-अलग अर्थ है। एक "भग्ना" का अर्थ "टूटी हुई" है तथा दूसरे "भग्ना" का अर्थ "कुटिल" है। अतएव यहाँ पर यमक अलंकार है।

- -

1• अर्थ सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुन: श्रुति: ।। यमकम् ।। का0प्र0सू0।।6

2• आ0 स0 398

3• आ0 स0 409

3. श्लेष अलङ्कार :

"श्लेष" वह अलंकार है जिसमें अर्थ-भेद के कारण परस्पर भिन्न भी शब्द, उच्चारण सारूप्य के कारण, एकरूप प्रतीत हुआ करते हैं। यह अक्षर इत्यादि के इस प्रकार के सारूप्य के कारण आठ प्रकार का हुआ करता है।[1]

सम्पूर्ण आर्यासप्तशती श्लेष अलंकार के प्रयोग से व्याप्त है। चूँकि श्लेष अलंकार में एक ही श्लिष्ट पद से अनेक अर्थ का बोध होता है ; अत: उत्कृष्ट कोटि के कवि श्लेष से अधिक आकृष्ट होते हैं; यही कारण है कि गोवर्धनाचार्य भी श्लेष अलंकार के प्रयोग में बहुत रुचि लिये हैं। विवेच्य कृति से श्लेष के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यथा-

आदाय सप्ततन्त्रीचितां विपन्चीमिव त्रयीं गायन् ।
मधुरं तुरङ्गवदनोचितं हरिर्जयति हयमूर्धा ।।[2]

प्रस्तुत उदाहरण में "सप्ततन्त्रीचिताम्" पद श्लिष्ट है। इसका वेदत्रयी के लिए अर्थ होगा- सप्तानां तन्त्राणां समाहार: सप्ततन्त्री, तया चिताम्। अर्थात् अग्निष्टोमादि सात यागों का प्रतिपादन करने वाली। वीणा के लिए इसका अर्थ इसप्रकार से होगा- सप्तभि: तन्त्रीभि:

---

1. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृश: ।
श्लिष्यन्ति शब्दा: श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।। का0 प्र0 सू0 118

2. आ0 स0 15 ।

चितामू। अर्थात् सात तारों से युक्त । इस प्रकार यहाँ पर श्लेष अलंकार पुष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार श्लेष अलंकार का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

उल्लसितभ्रूधनुषा तव पृथुना लोचनेन रुचिराङ्गि ।
अचला अपि न महान्तः के चन्चलभावमानीताः ।।[1]

यहाँ पर "उल्लसितभ्रूधनुषा" "पृथुना" "महान्तः" तथा "अचला" पद श्लिष्ट हैं। इन श्लिष्ट पदों के दो-दो अर्थ निकल रहे हैं। सर्वप्रथम उल्लसितभ्रूधनुषा पद में एक अर्थ होगा- उल्लसितं भ्रूरूपं धनुः। अर्थात् जिसका भ्रूरूप धनुष उल्लसित है। दूसरा अर्थ होगा - उल्लसितं भ्रूसदृशं धनुः यस्य तेन;अर्थात् जिसका भ्रूसमान धनुष उल्लसित है। उसी प्रकार "पृथुना" श्लिष्ट पद के दो अर्थ होंगे- ॥1॥ विशाल या कर्णपर्यन्त ;॥2॥ पृथु नामक राजा। "महान्तः" श्लिष्ट पद का दो अर्थ होगा- ॥1॥ श्रेष्ठाः ॥2॥ परिमाणशालिनः।इसी प्रकार "अचला" श्लिष्ट पद का अर्थ होगा- ॥1॥ चापलशून्यः;॥2॥ पर्वत। इस प्रकार यहाँ एक ही श्लोक में चार पद श्लिष्ट है।

---

1. आ० स० ।17 ।

आर्यासप्तशती में अर्थालङ्कार

गोवर्धनाचार्य ने शब्द-सौन्दर्य को अधिक महत्त्व न देकर अर्थसौन्दर्याभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। इसीकारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया है।

1. उपमा अलङ्कार

अर्थालङ्कारों में उपमा अलङ्कार सर्वाधिक प्रिय रहा है। आर्यासप्तशतीकार ने भी उपमा का प्रयोग विविध उपमानों द्वारा किया है। वैसे भी दो पदार्थों में साम्य की स्थापना, मानव-मन की सहज अभिव्यक्ति का उपमा सर्वोत्तम साधन है। यही कारण है कि साहित्यकारों ने इस अलङ्कार को "काव्यरत्न" तथा काव्यसम्पदा का सर्वस्व" कहा है।

आचार्य विश्वनाथ ने उपमा का लक्षण करते हुए स्पष्ट किया है कि जहाँ उपमेय-उपमान में विरुद्ध धर्म से रहित साम्य का वर्णन किया जाय; वहाँ उपमा अलङ्कार होता है।[1] उपमा अलङ्कार में चार तत्व होते हैं। ये चारों तत्व हैं- उपमेय, उपमान, साधारण धर्म एवं उपमा का वाचक शब्द ।

---

1. " साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्यउपमा द्वयो:।"

— सा० द० 10/14

उपमा का प्राणतत्व सादृश्य है। यही कारण है कि आचार्य दण्डी ने सभी सादृश्यमूलक अलङ्कारों का उद्भव उपमा से ही माना है।[1] उपमा की इन्हीं सब विशेषताओं के कारण आचार्य गोवर्धन ने भी उपमा का अधिक प्रयोग किया है। उपमा उनके ग्रन्थ का सर्वाधिक प्रिय अलङ्कार रहा है। इस ग्रन्थ में उपमानों का चयन बड़ा ही आकर्षक है। उपमानों के चयन में कवि बहुत सचेष्ट सिद्ध हुआ है। अपने ग्रन्थ में आचार्य ने विविध उपमानोंयथा पौराणिक घटना- सम्बन्धी, लोकव्यवहार-सम्बन्धी, धर्मशास्त्रीय,प्राकृतिक एवं ज्योतिष-परक आदि का समुचित प्रयोग किया है।

आर्यासप्तशती से उपमा अलङ्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है-

अतिपूजिततारेयं दृष्टि: श्रुतिलङ्घनक्षमा सुतनु ।
जिनसिद्धान्तस्थितिरिव सवासन कं न मोहयति ।।[2]

यहाँ पर नायिका की सखी- नायिका की दृष्टि के उत्पकर्ष का वर्णन कर रही है। यहाँ पर नायिका की दृष्टि उपमेय है; तथा उपमान है जिनसिद्धान्त। नायिका की सुन्दर पुतलियों वाली कर्णपर्यन्त विस्तृत,सवासना अर्थात् कज्जलादि संस्कारयुक्ता नायिका की दृष्टि उसी प्राकर सबको मोहित कर लेती है जिस प्रकार "तारा" नाम

---

1. उपमा नाम सा तस्या: प्रपन्चोऽयं प्रदृश्यते ।
- काव्यादर्श 2/14

2. आ0 स0 21

के देवता की पूजा करने वाली, वेदोक्त अनुष्ठानों को उल्लंघन करने वाली, मिथ्याभावों वाली जिनसिद्धान्त की स्थिति प्रत्येक व्यक्ति को मोह लेती है। इस प्रकार यहाँ पर उपमेय एवं उपमान में जो साम्य प्रस्तुत है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

उपमा का एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है-

अकरुण कातरमनसो दर्शितनीरा निरन्तरालेयम् ।

त्वामनुधावति विमुखं गंगेव भगीरथं दृष्टिः ।।[1]

यहाँ पर प्रसंग है नायिका से रूठकर नायक के जाने का। नायक की अश्रुपूर्ण दृष्टि, नायक पर लगी हुई है। इस दृश्य को चित्रण करते समय, इसी के अनुरूप स्वाभाविक एवं प्रसंग के अनुकूल ही कवि ने अपने पौराणिक ज्ञान के सहारे भगीरथ के पीछे-पीछे चलती गंगा की अवतारणा कर प्रकृति को सहज-गम्य बना दिया है। नायिका की दृष्टि के लिए "दर्शितनीरा" और गंगा के लिए "निरन्तराला" विशेषण रखकर दोनों के सादृश्य को अधिक सहज तथा बोधगम्य बना दिया गया है।

---

1. आ० स० 34

आर्यासप्तशतीकार को पौराणिक उपमान अधिक प्रिय थे। अतः उन्होंने पौराणिक उपमानों को समूचे ग्रन्थ में बिखेरा है। उनकी एक पौराणिक उपमा द्रष्टव्य है-

" छायामात्रं पश्यन्नधोमुखोऽप्युदगतेन धैर्येण ।

तुदति मम हृदयनिपुणा राधाचक्रं किरीटीव ।।"[1]

यहाँ पर नायक की शिष्टता पा मुग्ध नायिका सखी से कह रही है- {गुरुजन के समक्ष} मेरी छायामात्र देखते हुए {साक्षात् मेरा अवलोकन न कर मेरी लाज रख ली है} नीचे मुख किये {नायक ने} तथापि अपने {इस} प्रकट धैर्य से मेरे हृदय को बेध दिया जैसे {द्रौपदी के स्वयंवर में ध्वजाग्रस्थित चन्चल} मीन की छाया को देखकर नीचे मुख किये हुए भी अर्जुन ने उस मीन के नेत्र को बाण से बेध दिया था। यहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों की घटना में कवि ने जो साम्य प्रस्तुत किया है वह सहज ही यह स्पष्ट कर देता है कि कवि उपमानों के चयन में बहुत ही सचेष्ट रहता है। इसीप्रकार आर्यासप्तशती अनेकशः पौराणिक उपमानों से भरी पड़ी है।[2]

---

1. आ० स० ७० प्र० 234

2. पौराणि उपमानों से सम्बन्धित अन्य अर्या छन्द इस प्रकार हैं- प्र०प्र० 30, 34 23, 35, 49, 119, 129, 195, 234, 259, 265, 289, 295, 299, 314, 348, 388, 570, 675, 682 आदि।

ज्योतिषशास्त्रीय उपमानों के चयन क्रम में आचार्य ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है। ज्योतिष की उपमाओं से ऐसा लगता है कि कवि की ज्योतिष शास्त्र में भी गहरी पैठ थी। इससे सम्बन्धित कवि की कुछ उपमाएँ प्रस्तुत हैं-

" दुष्टसखीसहितेयं पूर्णेन्दुमुखी सुखाय नेदानीम् ।

राकेव विष्टियुक्ता भवतोऽभिमताय निशि भवतु ।।"[1]

प्रसङ्ग है- दुष्टसखीयुक्ता नायिका का। नायकसखी नायक से कह रही है कि पूर्णेन्दुमुखी, दुष्टसखीयुक्ता यह नायिका तुम्हारे दिन में सुख के लिए नहीं है; अपितु रात्रि में सुखदायिनी होगी। ठीक उसी प्रकार जैसे भद्रायुक्त पूर्णिमा दिन में शुभकार्यों के अयोग्य होती है किन्तु रात्रि में शुभकार्य सम्पादन के योग्य होती है।

ज्योतिष सम्बन्धी एक अन्य उपमा इस प्रकार है-

" सर्वसहां महीमिव विधाय तां वाष्पवारिभिः पूर्णाम् ।

भवनान्तरमयमधुना संक्रान्तस्ते गुरुः प्रेमा ।।"[2]

नायिका की सखी नायक से कह रही है कि जैसे सर्वसहा पृथ्वी को जल-पूर्ण बनाकर बृहस्पति अन्य राशि पर गमन कर जाता है, उसी प्रकार तेरे सभी अपराधों को सहने वाली

- -

1. आ० स० 30।

2. आ० स० 644

उस बेचारी नायिका को अश्रुजलपूर्ण कर , तेरा यह श्रेष्ठ प्रेम अब अन्य नायिका में प्रवेश कर गया है। इस आर्या में कवि ने वृहस्पति के चलने पर अतिवृष्टि होती है- इस ज्योतिषशास्त्रीय उपमान का बड़ा सटीक चयन किया है। निश्चित ही यह कवि की प्रशंस्य मनीषा का द्योतक है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तों से सम्बन्धित उपमान भी कवि ने पर्याप्त ग्रहण किया है। इस विषय में एक प्रसङ्ग द्रष्टव्य है-

अविरलपतिताश्रु वपुः पाण्डु स्निग्धं तवोपनीतमिदम् ।
शतधौतसमाज्यमिव मे स्मरशारदाहव्यथां हरति ।।[1]

यहाँ पर शरीर और घृत में साम्यप्रदर्शित है। "घृत" आयुर्वेद सम्बन्धी उपमान है।

इसी प्रकार अन्य आयुर्वेदीय उपमानों को भी देखा जा सकता है।[2]

---

1. आ० स० 7।
2. आ० स० 71;127; 147 ; एवं 677 आदि ।

शरीर विज्ञान के सिद्धान्तों को भी कवि ने उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे सम्बन्धित एक प्रसङ्ग द्रष्टव्य है-

उद्गमनोपनिवेशनशयनपरावृत्तिवलनवचनेषु ।

अनिशं स मोहयति मां हृल्लग्नः श्वास इव दयितः।।[1]

यहाँ पर कवि ने हृदय के "श्वास रोग " के उपमान से नायिका की जिस छटपटाहट का चित्रण किया है वह निश्चित ही सहृदय संवेद्य है।

ग्रन्थकार ने दार्शनिक मान्यताओं पर आश्रित उपमानों का भी विवेचन किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

" बौद्धस्येव क्षणिको यद्यपि बहुवल्लभस्य तव भावः ।

भग्ना भग्ना भ्रूरिव न तु तस्या विघटते मैत्री ।।"[2]

वर्णन है- अनेक नायिकाओं से प्रेम करने वाले नायक का। नायिका की दूती नायक को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि बहुत से नायिकाओं के प्रति प्रेम करने वाले तेरा प्रेम नायिका के प्रति स्थिर नहीं हो सकता। फिर भी उसकी भग्न मैत्री, भग्नभ्रू की भाँति विघटित नहीं होती। यहाँ पर कवि ने बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद से सम्बन्धित उपमान ग्रहण किया है।

1• आ० स० 127

2• आ० स० 408

प्रकृति के मसृण स्निग्ध और सूक्ष्म भावों का चित्रण किसी कवि की पैनी दृष्टि का परिचायक होता है। आचार्य गोवर्धन ने उपमानों का चयन करते समय प्रकृति के सुकोमल भावों पर प्रभूत ध्यान दिया है। "आर्यासप्तशती" में प्राकृतिक उपमानों से सम्बन्धित कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है-

" उपरि परिप्लवते मम बालेयं गृहिणि हंसमालेव ।
सरस इव नलिननाला त्वमाशयं प्राप्य वससि पुन: ।।"[1]

प्रसङ्ग है- नायक के पास आती-जाती बाला को देखकर कुपित गृहिणी से नायक का कथन । यह बाला मेरे ऊपर मँडराया करती है और तुम मेरे हृदय में बसती हो- इस वाक्य के लिए उपमान प्रस्तुत है- जैसे सरोवर के ऊपर हंसमाला चक्कर काटा करती है कमलनाला सरोवर के भीतर रहती है। यहाँ पर प्राकृतिक उपमान "हंसमाला" एवं "कमलनाला" उपमेय "बाला" एवं "गृहिणी" के अनुकूल हैं।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

प्राचीरान्तरितेयं प्रियस्य वदनेऽधरं समर्पयति ।
प्राग्गिरिपिहिता रात्रि: सन्ध्यारागं दिनस्येव ।।[2]

प्रसङ्ग है- नायिका द्वारा नायक को चुम्बन हेतु अधर देने का । दूती नायक

- -

1• आ0 स0 132

2• आ0 स0 392

से कह रही है कि तुम्हारी पड़ोसिन, दीवाल से छिपकर प्रिय को अधर प्रदान कर रही है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पूर्वाचल से आच्छादित रात्रि दिन को सन्ध्याराग समर्पित करती है। यहाँ पर "अधर" उपमेय का "सन्ध्याराग" प्राकृतिक उपमान से सादृश्य स्थापित हुआ है। अतः यह एक प्राकृतिक उपमानका अच्छा उदाहरण है।

आचार्य गोवर्धन ने काव्यशास्त्रीय उपमानों को का प्रयोग बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है। इससे सम्बन्धित एक आर्या द्रष्टव्य है-

" न सवर्णा न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहापदि जातापभ्रंशभाषेव ।।"[1]

इसमें नायिका की दूती नायक से कह रही है कि वह बाला तुम्हारे विरह की विपत्ति में अपभ्रंश-भाषा सी हो गयी है। यहाँ पर "अपभ्रंश भाषा" यह काव्यशास्त्रीय उपमान है।

उपमा के महत्त्व को और उजागर करने के लिए कवि ने ग्रामीण उपमानों का आश्रय लिया है। यद्यपि आर्यासप्तशती की रचना नागर परिवेश में हुई है तथापि कवि ने ग्रामीण परिवेश का भी पूर्ण परिचय उपमानों के माध्यम से स्पष्ट किया है। उदाहरण

- -

1. आ० स० 342

के लिए द्रष्टव्य है-

" आसीदेव यदार्द्र: किमपि तदा किमयमाहतोऽप्याह ।

निष्ठुरभावादधुना कटूनि सखि रटति पटह इव ।।"[1]

यहाँ पर कवि ने ग्रामीण उपमान "नगाड़े" का प्रयोग करके उपमा की सार्थकता को चरितार्थ किया है। इसी प्रकार के अनेक ग्राम्य-उपमानों का प्रयोग आर्यासप्तशती में प्राप्त होता है।

कवि ने धर्मशास्त्र से सम्बन्धित उपमानों को भी प्रयोग किया है। इस प्रसङ्ग में एक धर्मशास्त्रीय उपमा द्रष्टव्य है-

" नीत्वागारं रजनीजागरमेकं च सादरं दत्त्वा ।

अचिरेण कैर्न तरुणैर्दुर्गापल्लीव मुक्तासि ।।"[2]

यहाँ पर धार्मिक उपमान "विल्वपत्री" के द्वारा किसी तरुणी के प्रेम का वर्णन किया गया है। अपने घर ले जाकर आदर सहित एक रात को जागरण देकर अर्थात् रातभर जागकर और तुझे जगाकर, अनेक युवक तुझे शीघ्र ही त्याग देते हैं; जैसे नवरात्र में अष्टमी को बेल की टहनी लाकर उसे पूजकर, रातभर जागरण आदि कर नवमी को उसे विसर्जित कर देते हैं।

- -

1. आ० स० 102

2. आ० स० 340

इस प्रकार उपमानों के बहुविध प्रयोगों से आचार्य ने अपनी बहु आयामी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है।

उपमा के सन्दर्भ में एक विशेष तथ्य यह है कि कवि ने "श्लिष्टोपमा" का प्रयोग अधिक किया है। श्लेष से अनुप्राणित उपमा का प्रयोग करना सामान्य कवि के लिए असम्भव तो नहीं; किन्तु कठिन अवश्य प्रतीत होता है। श्लेष से ओतप्रोत उपमा कवि की प्रतिभा को और निखार देती है। आचार्यगोवर्धन ने अपने ग्रन्थ में श्लेष से युक्त उपमा का प्रयोग करके अपने काव्यचातुरी का परिचय दिया है। यहाँ पर हमें श्लिष्टोपमा को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना है-

सखि चतुराननभावाद्वैमुख्यं क्वापि नैव दर्शयति ।
अयमेकहृदय एव द्रुहिण इव प्रियतमस्तदपि ।।[1]

यहाँ पर श्लिष्टोपमा अलङ्कार के द्वारा एक सखि अपने "प्रियतम" को "विधाता" के समान बता रही है। वह कहती है कि हे सखि ! मेरा प्रियतम विधाता के समान (1. चातुर्यवान् होने के कारण, 2. चारमुखों वाला होने के कारण) किसी में भी विमुखता (1. विरसता, 2-मुखाभाववत्ता) नहीं दिखाता है, तो भी यह एक हृदय ही (1. जिसका हृदय मुझमें ही है, 2. एक हृदय जिसका है) है। यहाँ पर "चतुराननभावात् वैमुख्यम्" तथा "एक हृदयः एव" श्लिष्टपदों द्वारा प्रियतम की विधाता से उपमा दी गयी है।

---

1. आ० स० 680

श्लिष्टोपमा अलङ्कार से विभूषित एक अन्य आर्या द्रष्टव्य है-

स्वाधीनैव फलर्द्धिजनोपजीव्यत्वमुच्चयच्छाया ।

सत्पुंसो मरूभूरूह इव जीवनमात्रमाशास्यम् ।।[1]

यहाँ पर "फलर्द्धि" "जनोपजीव्यत्वम्" "उच्चयच्छाया" तथा "जीवनमात्रम्" श्लिष्ट पदों द्वारा सत्पुरुष की उपमा मरूस्थल के वृक्ष से दी गयी है। अतः यहाँ पर श्लिष्टोपमा अलङ्कार है।

आचार्यप्रवर ने अपनी कथावस्तु के प्रतिपादन में प्रायः श्लेषयुक्त उपमा अलङ्कार का ही अवलम्बनलिया हैं। उन्होंने अपने श्रृङ्गारिक प्रसङ्गों को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित करते समय श्लिष्टोपमा अलङ्कार को अपना प्रमुख साधन माना है। इस अलङ्कार के बल से सखि कोअङ्गना प्रियतम निद्रा {स्वाप} के समान दिखाई पड़ता है। इस सन्दर्भ की आर्या प्रस्तुत है-

" अलसयति गात्रमखिलं क्लेशं मोचयति लोचनं हरति ।

स्वप्न स्वाप इव प्रेयान्मम मोक्तुं न ददाति शयनीयम् ।।"[2]

आर्यासप्तशती के अवलोकन से यह ज्ञात हो जाता है कि कवि ने अपने प्रमुख प्रसंगों के उद्घाटन में श्लिष्टोपमा अलङ्कार का ही चयन किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ इस अलङ्कार से विभूषित है।[3]

1• आ0 स0 676

2• आ0 स0 54

3• ग्रा0 व्र0 15 एवं 54 6, 14, 21, 23, 34, 35, 41-47, 54, 75, 95, 102, 107, 144, 157, 176 •

रूपक अलङ्कार:

"रूपक" शब्द का अर्थ है- रूपयति एकतां नयतीति रूपकम्- अर्थात् एकता अथवा अभेद की प्रतीति का उत्पादन। अभिप्राय यह है कि उपमान और उपमेय के भिन्न स्वरूप में प्रकाशित होने पर भी दोनों में अत्यन्त साम्य के प्रदर्शन के लिए काल्पनिक अभेद का किया जाना "रूपक" है। आचार्य मम्मट ने रूपक का लक्षण इस प्रकार दिया है-"उपमेय और उपमान का जो अभेद-अभेदारोप अथवा काल्पनिक अभेद है उसे "रूपक" अलङ्कार कहा जाता है।"[1]

प्रस्तुत विवेच्यकृति में रूपक का स्थान -स्थान पर प्रयोग हुआ है। यथा-

प्रणयकुपित प्रियापदलाक्षासन्ध्यानुबन्धमधुरेन्दु: ।

तद्वलयकनकनिकषग्रावग्रीव: शिवो जयति ।।[2]

यहाँ पर"प्रियापदलाक्षा" में "सन्ध्या" का आरोप होने से तथा "ग्रीवा" में "निकषग्रावा" का आरोप होने से रूपक अलंकार है।

आर्यासप्तशती में साङ्गरूपक, निरङ्ग रूपक तथा परम्परित रूपक के भी उदाहरण पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम साङ्ग रूपक का उदाहरण प्रस्तु है-

---

1• तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो: । का0 प्र0 सू0 138

2• आ0 स0 ग्र0 प्र0 8 ।

जयति जटाकिंजल्कं गङ्गामधु मुण्डवलयबीजमयम् ।

गलगरलपङ्कसम्भवमम्भोरुहमाननं शम्भो: ॥[1]

यहाँ पर उपमेय "मुख" पर उपमान "कमल" का आरोप है, तथा मुँख के आधारभूत "जटा" में "केसर" का "गङ्गा" में मधु (मकरन्द) का, "मुण्डमाला" में "बीजमातृका" (कमल-गट्टा) का तथा "कण्ठस्थ विष" में "पङ्क" का आरोप होने से साङ्ग रूपक है।

साङ्ग रूपक का एक अन्य उदाहरण-

कज्जलतिलककलङ्कितमुखचन्द्रे गलितसलिलकणकेशि ।

नवविरहदहनतूलो जीवयितव्यवस्त्वया कतम: ॥[2]

यहाँ पर "कज्जलतिलककलङ्कितमुखचन्द्रे" पद में रूपक अलङ्कार है, और चूँकि मुखचन्द्र के आधारभूत अँग "कज्जलतिलककलङ्कित" का भी प्रयोग हुआ है अत: यहाँ साङ्ग रूपक है। यहाँ "मुख" पर "चन्द्रमा" का आरोप है तथा मुख के "काजलरूपी" तिलक पर चन्द्रमारूपी कलङ्क का आरोप हुआ है।

इसी प्रकार के अनेक प्रयोग प्रस्तुत कृति में प्राप्त होते हैं।

---

1. आ० स० ग्र० प्र० 5

2. आ० स० 172

अब, प्रस्तुत है निरङ्ग रूपक का उदाहरण-

श्यामं श्रीकुचकुङ्कुमपिन्जरितमुरो मुरद्विषो जयति ।

दिनमुखनभ इव कौस्तुभविभाकरो यद्विभूषयति ।।[1]

यहाँ पर "कौस्तुभविभाकर:" में रूपक अलंकार है; क्योंकि उपमेय "कौस्तुभ" पर उपमान "विभाकर(सूर्य)" का आरो हुआ है। चूँकि यहाँ पा केवल कौस्तुभ रूप सूर्य का ही प्रयोग हुआ है, अत: यहाँ निरङ्ग रूपक अलङ्कार है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण -

ब्रह्माण्डकुम्भकारं भुजगाकारं जनार्दनं नौमि ।

स्फारे यत्फणचक्रे धरा शरावश्रियं वहति ।।[2]

यहाँ पर "ब्रह्माण्डकुम्भ" में निरङ्ग रूपक है।"ब्रह्माण्ड" उपमेय है तथा "कुम्भ" उपमान है। चूँकि "ब्रह्माण्ड" उपमेय पर "कुम्भ" उपमान का आरोप हुआ है अत: यहाँ पर निरङ्ग रूपक है।

1• आ० स० ग्र० प्र० ।।

2• आ० स० ग्र० प्र० ।7

परम्परित रूपक-

" परम्परित " रूपक का अभिप्राय है- परम्परा सन्जाता यस्य तत्परम्परितम्" अर्थात् वह रूपक जिसमें आरोप की एक परम्परा प्रतीत हो अर्थात् जहाँ एक प्रमुख रूपक और उसके अन्य आनुषङ्गिक रूपकों में कार्यकारणभाव अवभासित हुआ करे।[1] उदाहरणार्थ-

चुम्बनलोलुपमदधरहृतकाश्मीरं स्मरन्न तृप्यामि ।
हृदयद्विरदालानस्तम्भं तस्यास्तदूरुयुगम् ।।[2]

यहाँ पर "हृदय" उपमेय है "द्विरद" (हाथी) उपमान है तथा नायिका का "जंघाद्वय" उपमेय है और हाथी बाँधने का स्तम्भ उपमान है। चूँकि यहाँ पर आरोप की परम्परा प्रतीत हो रही है, अतः यह परम्परित रूपक का अच्छा उदाहरण है। हृदय उपमेय पर द्विरद उपमान का आरोप है तथा जंघाद्वय पर बाँधने के स्तम्भ का आरोप है।

- -

1. नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ।।
का० प्र० सू० 144

2. आ० स० 230

मालोपमा अलङ्कार:

मालोपमा वह अलंकार है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमानों से साम्य प्रदर्शित हो। आचार्य मम्मट ने भी मालोपमा का अलग से परिभाषा तथा उदाहरण नहीं दिया है। मालारूपक के प्रसङ्ग में उन्होंने इसे स्पष्ट किया है।[1]

प्रस्तुत कृति में मालोपमा का अच्छा उदाहरण द्रष्टव्य है-

तल्पे प्रभुरिव गुरुरिव मनसिजतन्त्रे श्रमे भुजिष्येव ।
गेहे श्रीरिव गुरुजनपुरतो मूर्तेव सा व्रीडा ।।[2]

यहाँ पर एक ही उपमेय है नायिका तथा इसका अनेक उपमान से साम्य दिखाया गया है। शय्या पर नायिका प्रभु के समान, कामशास्त्र में गुरु के समान, श्रम में दासी के समान, घर में लक्ष्मी के समान, गुरुजनों के आगे मूर्तिमती-लज्जा के समान है। इसप्रकार नायिका का अनेक उपमानों के साथ साम्य हुआ है, अतः यहाँ मालोपमा अलंकार है।

---

1. " माला तु पूर्ववत्।"
मालोपमायामिवैकस्मिन् बहवः आरोपिताः ।
का० प्र० सू० 143

2. आ० स० 257

उत्प्रेक्षा अलङ्कार -

"उत्प्रेक्षा" वह अलङ्कार है जिसे 'प्रकृत (उपमेय) की उसके समान (अप्रकृत) उपमान के साथ तादात्म्यसम्भावना कहा करते हैं।[1] आचार्य मम्मट की इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्प्रेक्षा अलंकार में सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान की संभावना व्यक्त की जाती है।

आर्यासप्तशती में इस अलंकार से विभूषित अनेक आर्याएँ प्राप्त होती हैं। इस सन्दर्भ में एक आर्या द्रष्टव्य है-

[illegible]यापदान्ते गरलग्रैवेयकः स्मरारातिः ।
विषमविशिखे विशन्निव शरणे गलबद्धकरवालः ॥[2]

यहाँ पर पार्वती जी के पदों क समीप शंकर जी की अवस्थिति में, कामदेव की शरण में प्रवेश की उत्प्रेक्षा की गई है अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। यह संभाव्य उत्प्रेक्षा पाठकों को जहाँ सम्पूर्ण दृश्य का बोध कराने में समर्थ है, वहीं लोकप्रसिद्ध के कारण सरलता से ग्राह्य भी है।

---

1. "संभवानमथोत्प्रेक्षा 'प्रकृतस्य समेन यत् ।

का० प्र० सू० 136

2. आ० स० ग्र० प्र० - 3

आर्यासप्तशती में कवि की समस्त उत्प्रेक्षाएँ प्राय: लोक-प्रसिद्धि पर आधारित ही मिलती हैं। कवि की संभाव्य उत्प्रेक्षा में भी लोकप्रसिद्धि का विशेषरूप से आदर किया गया है-

श्रीकरपिहितं चक्षु: सुखयतु व: पुण्डरीकनयनस्य ।
जघनमिवेक्षितुमागतमब्जनिभं नाभिसुषिरेण ।।[1]

यहाँ "जघनमिवेक्षितुमागतम्" में उत्प्रेक्षा है। इस आर्या में लक्ष्मी के कर से आच्छादित विष्णु का नेत्र नाभिरन्ध्र से मानो जघनदर्शन की लालसा से अब्जसदृश आ गया ऐसी उत्प्रेक्षा से जहाँ लक्ष्मी के जघन का आधिक्य तथा विष्णु-नेत्र की श्रीजघन सौन्दर्य-दर्शनविषयक सुखलम्पटता ध्वनित हो रही है वहीं सहृदय उत्प्रेक्षाजन्य अलौकिक आनन्द की अनुभूति के साथ लोक-प्रसिद्ध पृष्ठभूमि पर भी मुग्ध हो जाता है। प्राय: लोक में ऐसा देखा जाता है कि अत्यन्त लम्पट व्यक्ति, रूप बदलकर निभृत मार्ग से जाकर अपना कार्य सिद्ध करता है।

साहित्य में प्राय: यह देखा जाता है कि उत्प्रेक्षा ही कवि को काव्य-रचना में अधिक प्रिय होता है। क्योंकि उत्प्रेक्षा कवि-कल्पना एवं लोक-प्रसिद्धि दोनों पर आधृत होती है। कवि के कल्पना की उत्कृष्टता उत्प्रेक्षा के द्वारा व्यक्त होती है।

---

1. आ० स० ग्र० प्र० 10

कवि की काल्पनिक उड़ानों में उत्प्रेक्षा पंखों का कार्य करती है। आर्यासप्तशती में कवि की उत्प्रेक्षा काल्पनिक उड़ानों पर न आधृत होकर याथार्थ्य की पृष्ठभूमि को स्पर्श करती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रस्तुत है एक आर्या छन्द-

"बन्धनभाजोऽमुष्याश्चिकुरकलापस्य मुक्तमानस्य ।
सिन्दूरितसीमन्तच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ।।[1]

प्रसंग है- नायिका के केशकलाप का वर्णन । नायिका के अत्यन्त दीर्घ, बन्धन को प्राप्त, केशकलाप का हृदय मानों सिन्दूरयुक्त शिर की माँग के बहाने (दो भागों में) फट गया है। लोक में भी प्राय: यह देखा जाता है कि जो बन्धन को प्राप्त होता है उस विगत-मान का हृदय विदीर्ण हो जाता है।

इस प्रकार आर्यासप्तशती में उत्प्रेक्षा के अनेक उदहारण प्राप्त होते हैं।[2]

---

1. आ० स० ब्र० व्र० 404
2. आ० स० ग्र० व्र० 1, 3, 4, 14, 19, 65, 257, 387, 400 506, 514, 589, 594, 688 आदि ।

दृष्टान्त अलङ्कार -

'"दृष्टान्त वह अलङ्कार है जिसमें उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य-दोनों वाक्यों में इन सबका अर्थात् उपमान,उपमेय और साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव झलका करता है।"[1]

' दृष्टान्तं में वाक्यार्थो का ही औपम्य अभिप्रेत रहता है। और यह शब्द-बोध्य नहीं अपितु अर्थगम्य हुआ करता है। यहाँ दृष्टान्त वाक्य के उपमान् उपमेय एवं साधारण धर्म के दार्ष्टान्तिक वाक्य में प्रतिबिम्बत होने काँअभिप्राय है दृष्टान्त वाक्य के उपमानादि और दार्ष्टान्तिक वाक्य के उपमानादि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव का होना। इस अलङ्कार को पुष्टि के लिए प्रस्तुत है एक आर्या छन्द-

नागर गीतिरिवासौ ग्रामस्थित्यापि भूषिता सुतनुः ।
कस्तूरी न मृगोदरवासवशाद्विरतामेति ।।"[2]

यहाँ पर दृष्टान्त वाक्य " कस्तूरी न मृगोदरवासवशाद्विरतामेति" के उपमानादि तथा दार्ष्टान्तिक वाक्य - "नागर गीतिरिवासौ ग्रास्थित्यापि भूषिता सुतनुः" के उपमानादि में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव झलक रहा है, अतः यह आर्या दृष्टान्त अलङ्कार का उदाहरण है। दृष्टान्त से ओतप्रोत अनेक आर्या प्राप्त होती है।[3]

---

1. " दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् "।
   का०प्र० सू० 154

2. आ० स० 323

3. आ० स० ग्रा० प्र० 32, 36, 184, 199, 244, 323 एवं 513 आदि।

प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार

"प्रतिवस्तूपमा" वह अलङ्कार है जिसमें एक ही साधारण धर्म का, उपमान वाक्य और उपमेयवाक्य-दोनों वाक्यों में, दो बार उपादान ["कथितपदता" दोष के निवारण के लिए भिन्न- भिन्न शब्द द्वारा कथन] हुआ करता है।[1]

"प्रतिवस्तूपमा" का अभिप्राय है वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ का उपमानरूप से उपस्थित रहना और यह तब संभव है जब कि उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य -दोनों वाक्यों में एक ही साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाय जिसमें "कथितपदता" दोष न हो सके।

इस अलंकार से विभूषित एक आर्या द्रष्टव्य है-

" द्विगुणोऽपि काव्यबन्धः साधूनामाननं गतः स्वदते ।
फूत्कारोऽपि सुवंशैरनूद्यमानः श्रुतिं हरति ।।"[2]

प्रस्तुत श्लोक प्रतिवस्तूपमा का अच्छा उदाहरण है; क्योंकि यहाँ पर प्रथम पद उपमेय वाक्य है तथा द्वितीय पद उपमान वाक्य है। यहाँ प्रथम पंक्ति का साधारणधर्म "स्वदते" तथा द्वितीय का "श्रुतिं"हरति" है।

---

1. प्रतिवस्तूपमा तु सा ।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।"
का0 प्र0 सू0 153

2. आ0 स0 ग्र0 प्र0 42

इसी प्रकार एक अन्य आर्या भी द्रष्टव्य है-

"अननुग्राह्य न तथा व्यथयति कटुकूजितैर्यथा पिशुन: ।

रुधिरादानादधिकं दुनोति कर्णे क्वणन्मशक: ।।"[2]

प्रस्तुत श्लोक में दोनों विशेष वाक्य हैं। पिशुन एवं मशक, कटुकूजन एवं क्वणित, अननुग्रह और रुधिरादान का साम्य दिखाया गया है तथा दोनों में समानधर्म "व्यथयति" और दुनोति क्रिया [समानार्थक] द्वारा दिखाया गया है अत: यहाँ पर प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।

<u>व्यतिरेक अलङ्कार -</u>

"व्यतिरेक" वह अलंकार है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय का व्यतिरेक [गुणविशेष के कारण आधिक्य अथवा उत्कर्ष] बताया जाय ।[3]

" व्यतिरेक " का शाब्दिक अर्थ होता है - आधिक्य-उत्कर्ष । इस अलंकार से युक्त आर्या द्रष्टव्य है-

" छायाग्राही चन्द्र: कूटत्वं सततमम्बुजं भजति ।

हित्वोभयं सभायां स्तौति तवैवाननं लोक: ।।"[4]

---

2. आ0 स0 59
3. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स: ।
   का0 प्र0 सू0 158
4. आ0 स0 233

प्रस्तुत श्लोक में उपमान "चन्द्र" एवं कमल की अपेक्षा उपमेय नायिका के मुख में अधिक सौन्दर्य का वर्णन होने से व्यतिरेक अलङ्कार है।

इसी प्रकार व्यतिरेक से ओतप्रोत एक अन्य आर्या द्रष्टव्य है-

"खलसख्यं प्राङ्मधुरं वयोऽन्तराले निदाघादनमन्ते ।
एकादिमध्यपरिणतिरमणीया साधुजनमैत्री ।।"[1]

चूँकि प्रस्तुत श्लोक में उपमानभूत खलमैत्री की अपेक्षा उपमेयभूत साधुजनमैत्री की प्रशंसा की गयी है, अतः यहाँ पर व्यतिरेक अलङ्कार है।

<u>अर्थान्तरन्यास अलङ्कार -</u>

यह वह अलङ्कार है जिसे साधर्म्य और वैधर्म्य की दृष्टि से "सामान्य" का विशेष द्वारा और "विशेष" का सामान्य द्वारा समर्थन अथवा उपपादन कहते हैं।[2]

- -

1• आ० स० 193

2• सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।
का० प्र० सू० 164

" अर्थान्तरन्यास " का तात्पर्य है साधर्म्यरूप समर्थन हेतु अथवा वैधर्म्यरूप समर्थन हेतु के द्वारा "सामान्य" का "विशेष" से समर्थन और "विशेष का "सामान्य" से समर्थन किया जाना है।

"सामान्य" का "विशेष" से समर्थन का उदाहरण प्रस्तुत है-

" अग्रे लघिमा पश्चान्महतापि पिधीयते नहि महिम्ना ।
वामन इति त्रिविक्रममभिदधति दशावतारविद: ।।"[1]

यहाँ पर " पहले की लघुता बाद के गौरव से छिपाई नहीं जा सकती " इस सामान्य कथन का समर्थन = दशावतारों के विषय में जानने वाले लोग त्रिविक्रम को वामन कहते है" इस विशेष पद द्वारा किया गया है, अत: यहाँ सामान्य का विशेष से समर्थ करने वाला अर्थान्तरन्यास है।

इसी प्रकार"विशेष" का "सामान्य" से समर्थन का उदाहरण प्रस्तुत है-

" दुर्जनसहवासादपि शीलोत्कर्ष न सज्जनस्त्यजति ।
प्रतिपर्वतमनवासी नि:सृतमात्र: शशी शीत: ।।"[2]

1• आ0 स0 60

2• आ0 स0 279

प्रस्तुत श्लोक में "सज्जन दुष्टसहवास से भी अपने उत्कृष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते" इस "विशेष" कथन का "चन्द्रमा प्रत्येक अमावस्या को सूर्य में बसता है किन्तु निकलते ही वह शीतल रहता है" इस सामान्य कथन द्वारा समर्थन किया गया है, अतः यह विशेष का सामान्य द्वारा समर्थित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

इसी प्रकार आर्यासप्तशती में अर्थान्तरन्यास के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।[1]

भ्रान्तिमान् अलङ्कार -

"भ्रान्तिमान्" वह अलंकार है जिसमें प्राकरणिक के दर्शन में, अप्राकारणिक के साथ उसके सादृश्य के कारण, अप्राकरणिक प्रतीति का निरूपण किया जाय।"[2] मम्मटाचार्य द्वारा प्रदत्त यह परिभाषा भ्रान्तिमान् अलंकार के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करती है।

भ्रान्तिमान् अलंकार केवल भ्रान्ति में नहीं अपितु सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति में है। "सादृश्यप्रयुक्त भ्रान्ति " भी ऐसी होती है, जिसमें कवि की प्रतिभा का हाथ होता है। यही कारण है कि अलंकार-सर्वस्वकार का कथन है-

" सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते।"

- -

1• आ० स० 194, 281, 307, 311, 321, 396, 398, 426, 460,505 550, 554, 634 एवं 664 आदि आर्याएँ ।

2• भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ।
का० प्र० सू० 199

प्रस्तुत ग्रन्थ में इस अलंकार का चित्रण हुआ है। इसको स्पष्ट करने के लिएएक आर्या द्रष्टव्य है-

" मा वम संवृणु विषमिदमिति सातङ्कं पितामहेनोक्त: ।
प्रातर्जयति सलज्ज: कज्जलमलिनाधर: शम्भु: ।।"[2]

प्रस्तुत श्लोक में "कज्जल" एवं "विष" के रंग की समानता के कारण कज्जल को विष समझने के कारण यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

भ्रान्तिमान से ओतप्रोत एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

"प्रतिबिम्बसंभूताननमादर्शं सुमुख मम सखीहस्तात् ।
आदातुमिच्छसि मुधा किं लीलाकमलमोहेन ।।"[3]

प्रस्तुत आर्या में करतल पर शोभित दर्पण में प्रतिबिम्बित नायिका के कमलवत् मुख में लीलाकमल की भ्रान्ति होने से यहाँ पर भ्रान्तिमान अलंकार है।

- -

2. आ0 स0 ग्र0 व्र0 2

3. " ~~काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।~~"
आ० स० 350 ~~का0 प्र0 सू0 173~~

काव्यलिङ्ग अलङ्कार-

"काव्यलिङ्ग" वह अलंकार है जिसमें वाक्यार्थ रूप से तथा पदार्थरूप से हेतु का अर्थात् स्वत: अनुपपन्न प्रतीत होने वाले अर्थ के उपपादक का अभिधान अथवा प्रतिपादन हुआ करता है।[1]

काव्यलिङ्ग अलंकार आर्यासप्तशती में प्राप्त होता है। यथा-

मम सख्या नयनपथे मिलित: शक्तो न कश्चिदपि चलितुम् ।

पतितोऽसि पथिक विषमे घट्टकुटीये कुसुमकेता: ।।[2]

प्रस्तुत उदाहरण में चूँकि प्रथम वाक्य का द्वितीय वाक्य कारण है, अतएव यहाँ पर काव्य-लिङ्ग अलङ्कार है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

पथिकासक्ता किन्चन्न वेद घनकलमगोपिता गोपी ।

केलिकलाहुंकारै: कीरावलि मोघमपसरसि ।।[3]

इस आर्या में चूँकि प्रथ वाक्य द्वितीय का कारण है,अत: यहाँ पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

---

1. हेतोर्वाक्यपदार्थता' — का० प्र० सू० 173
2. आ० स० 350
3. आ० स० 459

अतिशयोक्ति अलङ्कार

अतिशयोक्ति वह अलंकार है जिसमें, उपमेय का ऐसा अध्यवसान काल्पनिक अभेद-निश्चय किया जाय कि वह उपमान में पृथक् निर्दिष्ट न दिखाई दे{अर्थात् उपमेय का उसके वाचक शब्द से ग्रहण न हो}, वर्ण्य विषय का उससे भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय, "यदि" शब्द के अभिप्राय में किसी असंभाव्य अर्थ की कल्पना की जाय और कार्य तथा कारण के पौर्वापर्य{पूर्वापरभाव} का वैपरीत्य प्रदर्शित किया जाय।[1]

आर्यासप्तशती में अतिशयोक्ति का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इस अलंकार की पुष्टि के लिए प्रस्तुत है एक आर्या-

अयि विविधवचनरचने ददासि चन्द्रं करे समानीय ।

व्यसनदिवसेषु दूति क्व पुनस्त्वं दर्शनीयासि ।[2]

प्रस्तुत आर्या में चूँकि उपमान, उपमेय को अध्यवसित कर लिया है, अत: अतिशयोक्ति अलङ्कार है। यहाँ पर उपमेय है-नायक तथा उपमान है चन्द्रमा। इस प्रकार यहाँ चूँकि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है- भलाचन्द्रमा को कभी हाथ में लाया जा सकता है, किन्तु यहाँ पर दूती चन्द्रमा को भी नायिका के हाथ में ला सकती है।

---

1. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
   प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।।
   कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
   विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।। का० प्र० सू० 152

2. आ० स० 4

विभावना अलङ्कार

"विभावना" वह अलंकार है जिसमें क्रिया किसी कारण का प्रतिषेध करके भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय।[1]

विभावना अलंकार का उदाहरण आर्यासप्तशती में मिलता है। यथा-

तव विरहे विस्तारितरजनौ जनितेन्दुचन्दनद्वेषे ।

बिसिनीव माघमासे विना हुताशेन सा दग्धा ।।"[2]

यहाँ पर -नायिका का विना आग के भस्म हो जाना विभावना अलंकार को स्पष्ट करता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार

अप्रस्तुत प्रशंसा" वह अलंकार है जिसे अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत(वस्तु) की ऐसी प्रशंसा अथवा वर्णना कहते हैं जो कि प्रस्तुत (अर्थात् प्रकृत) अर्थ की प्रतिपत्ति का आश्रय (निमित्त) हुआ करती है।[3]

---

1. क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।। का0 प्र0 सू0 161
2. आ0 स0 255
3. "अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।"

   का0 प्र0 सू0 150

"अप्रस्तुतप्रशंसा" का अभिप्राय है- अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत {विषय} के प्रतिपादन के द्वारा प्राकरणिक {प्रस्तुत} विषय का आक्षेप अथवा प्रत्यायन ।

गोवर्धनाचार्य ने अप्रस्तुत -विधान करते समय अपनी सूक्ष्म-बुद्धि का परिचय दिया है। नायिका के विपरीत आचरण के कारण दु:खीनायक, नायिका की भर्त्सना करता है- इस प्रसंग को लेकर अप्रस्तुत तटस्थ वृक्ष तथा नदी की योजना प्राय: कवि किया करते हैं। इन्होंने भी ऐसी ही योजना की है किन्तु भाव में तीव्रता, अन्योक्ति में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए, इस प्रसंग में एक नदी-विशेष का निर्वाचन किया है और वृक्ष-रूप में उसके तट पर उत्पन्न होने वाले "निचुल" तीर-वृक्ष को ग्रहण किया है। वह नदी - विशेष है "कावेरी"। अन्योक्ति का सम्पूर्ण भाव इसी "कावेरी" शब्द में निहित है-

" अयि कूलनिचुलमूलोच्छेनदु:शीलवीचिवाचाले ।
वक्रेविघसपङ्कसारा न चिरात् कावेरि भवितासि।।"[1]

यहाँ पर "कावेरी" का नदी-पक्ष में तथा नायिका-पक्ष में अलग-अलग अर्थ होगा। "कावेरी" का नदी पक्ष में अर्थ- कं जलं वेरं शरीरमस्या: इति कावेरी। नायिका पक्ष में- कुत्सितं वेरं शरोरमस्या: इति कावेरी {वेश्या}।

---

1. आ० स० 3

इसी प्रकार कवि समीपवर्ती उपजीवियों को पीड़ित करने वाली प्रस्तुत नायिका के स्थान पर अप्रस्तुत नदीसामान्य का विधान न करके नदीविशेष"गोदावरी" का विधान करता है। यहाँ पर "गां ददाति" इस व्युत्पत्ति से अन्योक्ति में दृढ़ता आ गयी है-

मूलानि च निचुलानां हृदयानि च कूलवसतिकुलटानाम् ।

मुदिरमदिराप्रमत्ता गोदावरि किं विदारयसि ।।"[1]

यहाँ पर "गोदावरी" के माध्यम से कवि ने अप्रस्तुत विधान में अपूर्व सफलता अर्जित की है। क्योंकि भला गोदावरी [गोदान करने वाली,पुण्यकर्त्तव्यपरायणा] को ऐसा अकार्य शोभा देगा ?

कतिपय व्यक्तियों का आश्रय लेकर किसी का अपकार करने को उद्यत व्यक्ति से अप्रस्तुत विधान द्वारा कवि किस प्रकार कहता है-

आयासः परहिंसा वैतंसिकसारमेय तव सारः ।

त्वामपसार्य विभाज्यः कुरङ्ग एषोऽधुनैवान्यैः ।।"[2]

यहाँ पर बहेलिये के कुत्ते को सम्बोधित करके अप्रस्तुत विधान किया गया है।

---

1. आ० स० 43।

2. आ० स० 100

कवि अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा श्रृङ्गारिक स्थलों को बड़े सलीके से व्यक्त करता है-

" पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ।।"[1]

यहाँ पर कोई सखी नायक से अन्योक्ति द्वारा कह रही है कि हे मधुप ! दूर से जिह्वाग्र भाग मात्र रखकर बकुलकली का रसपान करो। अधरसंपर्क में ही समाप्त हो जाने योग्य मकरन्द पर व्यर्थ मुँह न लगाओ। (यह नायिका अत्यन्त सुरतक्लेश को न सह सकेगी)।

अप्रस्तुत विधान करते समय कवि पौराणिक कथाओं का भी सहारा लिया है -

" मधुमथनमौलिमाले सखि तुलयसि तुलसि किं मुधा राधाम् ।
यत्तव पदमदसीयं सुरभयितुं सौरभोद्भेद: ।।[2]

---

1. आ० स० 397

2. आ० स० 433

अर्थात् श्रीकृष्णा के मस्तक पर मालारूप सखि तुलसि। तू राधा को अपने समान क्यों समझती है। क्योंकि ﴾श्रीकृष्ण सर्वदा राधा के चरणों पर प्रणाम करते है।﴿ तेरे परिमल का उद्रेक राधा के चरणों को सुरभित करने के लिए है। ﴾जो गौरव उसे प्राप्त है, वह तुझे नहीं﴿।

इस प्रकार सम्पूर्ण आर्यासप्तशती अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार से परिवेष्टित दिखाई पड़ती है।[1]

अतद्गुण अलंकार :

" अतद्गुण " अलंकार वह है जिसमें 'प्रकृष्टगुण' प्रकृत के संसर्ग में आकर न्यूनगुण भी अप्रकृत का, उस ﴾अर्थात् 'प्रकृत﴿ के गुण का अनुहरण न करना प्रतिपादित किया जाय।[2] अतद्गुण का अभिप्राय है- एक वस्तु ﴾अर्थात् अप्रकृत﴿ के द्वारा, जो कि न्यूनगुण हो, दूसरी अधिक गुण वाली वस्तु ﴾अर्थात् 'प्रकृत﴿ के गुण को तब भी ग्राह्य न किया जाना जब कि इसकी पूरी संभावना हो। उदाहरणार्थ-

नागर गीतिरिवासौ ग्रामस्थित्यापि भूषिता सुतनुः ।
कस्तूरी न मृगोदरवासवशाद्विसतामेति ॥[3]

---

1. अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के अन्य उदाहरण-
आ० स० 38, 80, 91, 100, 101, 112, 115, 118, 123, 135, 139, 151, 165, 178, 193, 201, 207, 223, 227, 229, 337, 254, 262, 264, 268, 272, 282, 297, 304, 310, 333, 336, 349, 370, 378, 384, 397, 411, 416, 433, 475, 477, 481, 485, 488, 489, 508, 532, 533, 540, 542, 557, 578, 582,584, 607, 688 आदि।
2. तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः । का० प्र० सू० 205
3. आ० स० 323 ।

यहाँ पर सुन्दरी का ग्राम में रहने पर भी सौन्दर्य से भूषित रहना बताया जा रहा है, जो कि गाँव में रहने पर संभव नहीं होता है। इसीप्रकार "कस्तूरी" हिरण के उदर में रहकर भी दुर्गन्ध को नहीं प्राप्त होती है। इसलिए यहाँ पर अतद्गुण अलंकार है। इसका एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

सखि लग्नैव वसन्ती सदाशये महति रसमये तस्य ।
वाडवशिखेव सिन्धोर्न मनागप्यार्द्रतां भजसि ॥[1]

यहाँ पर चूँकि नायिका नायक के प्रीतिमय प्रशस्त अन्त: करण में रहने पर भी आर्द्रता अर्थात् स्नेह को नहीं प्राप्त हो रही है, तथा समुद्र के अन्तस्थल में रहकर भी बड़वाग्नि सजलता को नहीं प्राप्त होती है। इसलिए यहाँ पर अतद्गुण अलंकार है।

<u>अपह्नुति अलंकार</u> -

अपह्नुति अलंकार वह है जहाँ 'प्रकृत का निषेध करके (उपमेय को असत्य प्रतिपादित करके) अन्य अर्थात् अप्रकृत- उपमान (की सत्यता) की सिद्धि की जाती है।[2]

---

1. आ० स० 655

2. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

का० प्र० सू० 145

आर्यासप्तशती में अपह्नुति अलंकार का प्रयोग हुआ, किन्तु इसकी संख्या अल्प ही है। यहाँ उदाहरण के रूप में एक श्लोक द्रष्टव्य है-

> किं श्वाथ किं प्रधावथ किं जनमाह्वयथ बालका विफलम् ।
>
> तदयं दर्शयति यथाऽरिष्टः कण्ठेऽमुना जगृहे ॥[1]

यहाँ पर प्रकृत "गोपी का आलिङ्गन" को असत्य सिद्ध करने के लिए अप्रकृत "अरिष्टासुर का गला दबाना" को सत्य सिद्ध किया जा रहा है। इस प्रकार यहाँ मुख्य तथ्य को छिपाने के कारण अपह्नुति अलंकार है। इसीप्रकार अपह्नुति का एक अन्य उदाहरण है-

> नखलिखितस्तनि कुरबकमयपृष्ठे भूमिलुलितविरसाङ्गि ।
>
> हृदयविदारणनिःसृतकुसुमास्त्रशरेव हरसि मनः ॥[2]

चूँकि यहाँ पर प्रकृत "कुरबक पुष्प" का निषेध करके "मदनबाण" को स्थापित किया गया है अतः यह अपह्नुति अलंकार का उदाहरण है।

----

1. आ0 स0 174

2. आ0 स0 324

विरोध-विरोधाभास अलंकार -

विरोध वह अलंकार है जहाँ दो वस्तुओं का उनमें वस्तुत: किसी प्रकार के विरोध के न होने पर भी, ऐसा वर्णन किया जाय जिससे उनमें विरोध की प्रतीति उत्पन्न हो जाय।[1]

आर्यासप्तशती में विरोधाभास का उदाहरण द्रष्टव्य है-

याभिरनङ्ग: साङ्गीकृत: स्त्रियोऽस्त्रीकृताश्च ता येन ।
वामाचरणप्रवणौ प्रणमत तौ कामिनीकामौ ।।[2]

यहाँ पर "अनङ्ग:" "साङ्गीकृत:" एवं "स्त्रिय:" "अस्त्रीकृता:" में विरोधाभास है, अत: यहाँ पर विरोधाभास अलंकार है।

विरोधाभास का एक उदाहरण इस प्रकार है-

एक: स एव जीवति स्वहृदयशून्योऽपि सहृदयो राहु: ।
य: सकललघिमकारणमुदरं न बिभर्ति दुष्पूरम् ।।[3]

यहाँ पर "हृदयशून्योऽपि सहृदय:" पद में विरोधाभास अलंकार है, क्योंकि एक तरफ तो हृदय से शून्य तथा दूसरी तरफ "सहृदय" होना बताया जा रहा है, अत: यहाँ पर निश्चितरूप से बिरोधाभास अलंकार है।

---

1. विरोध: सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच: ।
का0 प्र0 सू0 165
2. आ0 स0 ग्र0 व्र0 29 ।
3. आ0 स0 145 ।

एक अन्य उदाहरण जो अर्थ के द्वारा विरोधाभास को स्पष्ट करता है-

भालनयनेऽग्निरिन्दुर्मौलौ गात्रे भुजंगमपिदीपा: ।

तदपि तमोमय एव त्वमीश क: प्रकृतिमतिशेते ।।[1]

यहाँ पर चूँकि प्रकाशक सामग्री के रहने पर भी तमोमय अर्थात् अन्धकारयुक्त की बात कही जा रही है जो आपस में दो विरोधी धर्म है अत: यहाँ पर विरोधाभास अलंकार है।

अन्त में विरोधाभास का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत है जो श्लेषमूलक है तथा संख्याओं के क्रम को दर्शित कराता है-

एकरद द्वैमातुर निस्त्रिगुण चतुर्भुजापि पन्चकर ।

जय षण्मुखनुत सप्तच्छदगन्धिमदाष्टतनुतनय ।।[2]

यहाँ पर एक से लेकर आठ तक की संख्याओं का चमत्कारिक प्रयोग हुआ है। "चतुर्भुजापि पन्चकर" पद में विरोधाभास है। चार भुजाओं वाला होकर भी पाँच भुजाओं वाला होना विरोधी धर्म है। अत: यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

1· आ० स० 426

2· आ० स० ग्र० पृ० 27

दीपक अलङ्कार

"दीपक" वह अलंकार है जिसमें §1§ प्रकृत §उपमेय§ और अप्रकृत §उपमान§ के §गुणक्रियादि रूप§ धर्म का एकबार उपादान अथवा कथन हुआ करता है और §2§ साथ ही साथ वह भी दीपक है जिसमें एक ही कारक §कर्त्ता, करण, सम्प्रदान और अधिकरण में से किसी एक§ का अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध विवक्षित रहा करता है।[1]

आर्यासप्तशती में दीपक अलंकार से अलंकृत अनेक श्लोक प्राप्त होते हैं। यथा-

" आन्तरमपि बहिरिव हि व्यन्जयितुं रसमशेषत: सततम् ।
असती सत्कविसूक्ति: काचघटीति त्रयं वेद ।।"[2]

यहाँ पर प्रकृत अथवा प्राकरणिक तो है "कुलटा स्त्री" तथा अप्रकृत के रूप में "सत्कवि की सूक्ति" तथा काच की बनी झारी §कलश§ प्रस्तुत है। यहाँ प्रकृत एवं अप्रकृत दोनों में अन्तरंग रस को बहिरंग सा प्रकट करना साधारण धर्म के रूप में वर्णित है। अत: यहाँ दीपक अलंकार है।

---

1. " सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।"
का0 प्र0 सू0 155

2. आ0 स0 74 ।

प्रस्तुत कृति में क्रिया दीपक तथा कारक दीपक का बहुश: प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम क्रिया दीपक का उदाहरण लेते हैं-

निजगात्रनिर्विशेषस्थापितमपि सारमखिलमादाय ।
निर्मोकं च भुजंगी मुन्चति पुरुषं च वारवधू: ।।[1]

यहाँ पर प्रस्तुत है "पुरुषं च वारवधू:" तथा अप्रस्तुत है- "निर्मोकं च भुजंगी"। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों के लिए एक ही क्रिया है "मुन्चति"। समग्र सारभूत वस्तु को लेने के बाद वेश्या पुरुषों को छोड़ देती है तथा सर्पिणी केंचुल को छोड़ देती है। मुन्चति क्रिया से ॠ प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का अन्वय होने से क्रिया दीपक है।

इसीप्रकार क्रिया दीपक का एक अन्य उदाहरण पुन: द्रष्टव्य है-

वक्रा: कपटस्निग्धा मलिना: कर्णान्तिके प्रसज्जन्त: ।
के वन्चयन्ति न सखे खलाश्च गणिकाकटाक्षश्च ।।[2]

यहाँ पर "खला:" प्रस्तुत है तथा "गणिकाकटाक्षाश्च" अप्रस्तुत है। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों के लिए एक ही क्रिया "वन्चयन्ति" का प्रयोग होने से क्रिया दीपक है। दुष्ट भी धोखा देते हैं तथा गणिका के कटाक्ष भी।

---

1. आ० स० 328 ।
2. आ० स० 551 ।

आर्यासप्तशती में क्रिया दीपक की भाँति कारक दीपक के भी अनेक प्रयोग मिलते है।उदाहरणार्थ-

प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।

प्रियसङ्गाय स्फुरितां वियोगिनी बामबाहुलताम् ।।[1]

यहाँ पर वियोगिनी बायीं भुजा को प्रणाम करती है, देखती है, चूमती है, रोमान्चित अंगों से आलिङ्गन करती है। चूँकि यहाँ पर एक कारक का अनेक क्रियाओं से अन्वय हुआ है अतः कारक दीपक है।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

श्लिष्यन्निव चुम्बन्निव पश्यन्निव चोल्लिखन्निवातृप्तः ।

दधदिव हृदयस्यान्तः स्मरामि तस्या मुहुर्जघनम् ।।[2]

यहाँ पर नायिका के जघन रूप कारक का अनेक क्रियाओं यथा- आलिङ्गन करता सा, चूमता सा देखता सा, नखक्षत करता सा, हृदय में रखता सा आदि क्रियाओं से अन्वय होने के कारण कारक दीपक अलंकार है। इसी सरणि में कारक दीपक का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है-

सपरागृत्ति घरन्ती पात्येव तूर्णं मनोऽनवधाङ्गि ।

हरसि क्षिपसि तरलयसि भ्रमयसि तोलयसि पातयसि ।।[3]

---

1. आ० स० 347
2. आ० स० 569
3. आ० स० 621 ।

उपर्युक्त उदाहरण में नायिका का अनेक क्रियाओं से अन्वय हो-ने से कारक दीपक है। अनेक क्रियाएँ हैं- "हरसि" "क्षिपसि", "तरलयसि", "भ्रमयसि" "तोलयसि" तथा "पातयसि"।

"आर्यासप्तशती में बिम्बविधान तथा कल्पनाविधान"

मुक्तक-काव्यों की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि इनमें कवि अपनी कुशल प्रतिभा द्वारा अत्यन्त सटीक बिम्बविधान तथा कल्पनाविधान काप्रतिपादन करता है। बिम्बविधान एवं कल्पनाओं की दृष्टि से आर्यासप्तशती सर्वोत्तम रचना मानी जा सकती है। प्रस्तुत पक्ष की पुष्टि के लिए आर्यासप्तशती की कुछ आर्याएँ प्रस्तुत हैं- द्रष्टव्य हैं बिम्बविधान सम्बन्धी कुछ आर्याएँ-

एक प्रसंग है नायक-नायिका के विप्रलम्भ श्रृङ्गार का । नायक नायिका से दूर नहीं है फिर भी कुछ कारणवश नायिका समीपस्थ नायक को नहीं देख पा रही है। यह समय उसके लिए प्रवासकाल से भी अधिक दुःखद है। वह कह उठती है कि प्रिय आँखों के सामने तो पड़ा करे किन्तु उसका सङ्गमप्राप्त न हो सके- ऐसी स्थिति में जितनी व्यथा होती है उतनी तो प्रिय के विदेश रहने पर नहीं। इस प्रसङ्ग पर कवि ने यह बिम्ब प्रस्तुत किया है कि "रात में सूर्य के बिना सूर्यकान्त मणि केवल मलिन ही रहती है किन्तु दिन में तो सूर्य का दर्शन होते हुए भी उसे न पाकर संताप से जलने लगती है।"[1]

---

1. अनयनपथे प्रिये न व्यथा यथा दृश्य एव दुष्प्रापे ।
   म्लानैव केवलं निशि तपनशिला वासरे ज्वलति ॥
   आ० स० 26

इसी प्रकार बिम्बविधान सम्बन्धी एक दूसरी आर्या प्रस्तु है। प्रसङ्ग है- नागर नायक की ग्रामबाला के प्रति। नागर मन में यह विचार करता है कि कहीं यह ग्रामीण सुन्दरी वैसी गुणशालिनी न हो, जिसकी उसे अपेक्षा है। इस पर नागर को कोई सखी बता रही है- हे नागर ! यह सुन्दरी ग्राम {स्वर-सप्तक} में रहने वाली गीति के समान, ग्राम में रहने पर भी भूषित है। प्रस्तुत प्रसंगपर बिम्ब है-"कस्तूरी मृग के हृदय में रहने के कारण दुर्गन्ध को नहीं प्राप्त होती।" यह बड़ा ही यथार्थ बिम्ब है। इसी प्रकार बिम्बविधान सम्बन्धी अनेक स्थल आर्यासप्तशती में दृष्टिगत होते हैं। उपर्युक्त प्रसङ्ग बिम्बविधान के रूप में पूर्ण चरितार्थ सिद्ध हुए हैं। अत: बिम्बों को स्पष्ट करने के लिए और प्रसङ्गों को उल्लिखित करने की कोई आवश्यकता नहीं।

कल्पनाविधान-

काव्य में कल्पना का सबसे अधिक महत्त्व होता है। कवि कल्पना रूपी पंखों से गगनरूपी काव्य में उड़ान भरता है। जिस काव्य में जितनी उदात्त परिकल्पना की जाती है, वह उतना ही उच्चकोटि का माना जाता है। सत्यं, शिवम् एवं सुन्दरम् की सृष्टि कवि कल्पना के उदात्तीकरण से करता है। "सुन्दरम्" की परिकल्पना तो पूर्ण रूप से कल्पना पर आश्रित होती है। आर्यासप्तशती में भी सौन्दर्य की परिकल्पना करने के लिए कल्पनाविधान

---

1. नागर गीतिरिवासौ ग्रामस्थत्यापि भूषिता सुतनु: ।
कस्तूरी म मृगोदरवासवशाद्विसतामीत ।। 323 ।।

का प्रतिपादन किया गया है। कल्पना-विधान विषयक कुछ आर्याएँ प्रस्तुत है -

एक प्रसङ्ग है सूर्योदय का- जिससे कल्पना प्रस्तुत की गयी है। सूर्य निकलने ही वाला है, उसके चारों ओर लालिमा छायी हुई है इस पर कवि कल्पना कर रहा है -"मानों अन्धकाररूप गजों के भार से आक्रान्त पृथ्वी के भार से दबा हुआ कूर्म उदयगिरि रूप मुख को ऊपर उठाये हुए सन्ध्यारूप रक्त मुख से उगल रहा है।[1] बड़ी ही स्वाभाविक कल्पना है। यह लोकसंवेद्य कल्पना है।

कल्पना सम्बन्धी एक दूसरी आर्या प्रस्तुत है- प्रसङ्ग है नायक-नायिका के प्रणय-व्यापार का । ग्रामीण युवती एवं ग्रामीण युवक दोनों ने खेत में रतिक्रीडा की है । रतिक्रीडा के परिणामस्वरूप युवती का गुन्जाहार छिन्न-भिन्न होकर पड़ा है। इस पर कवि कल्पना करता है- कि मानों अपनी रक्षिका के विनय -विनाश से दुःखी होकर खेत को हृदय विदीर्ण पड़ा हो। तथा गुन्जा और सूत्र के रूप में हृदय का अन्तर्भाग बाहर निकला पड़ा हो।[2]

---

1. अयमन्धकारसिन्धुरभाराक्रान्तावनीभराक्रान्तः ।
   उन्नतपूर्वाद्रिमुखः कूर्मः सन्ध्यासृगुद्गमति ॥ 65 ॥

2. अन्तर्निपतितगुन्जागुणरमणीयस्चकास्ति केदारः ।
   निजगोपीविनयव्ययखेदेन विदीर्णहृदय इव ॥ 72 ॥

केशकलाप विषयक एक नवीन कल्पना द्रष्टव्य है-

केशश्रृंगार के समय नायिका ने माँग निकल कर सिन्दूर डाल दिया है तथा चोटी बन्धन बाध ली है। इस पर कवि की कल्पना है मानों बन्धन में पड़ने के कारण माँग के बहाने से केशकलाप का हृदय दो भागों में बँट गया हो। यह बहुत ही स्वाभाविक कल्पना है क्योंकि लोक में भी प्राय: यह देखा जाता है कि बन्धनयुक्त व्यक्ति का हृदय विदीर्ण हो जाता है।

प्रकृति-वर्णन से सम्बन्धित एक आर्या की प्रभावोत्पादक कल्पना द्रष्टव्य है- सन्ध्याकाल है, कमलों पर बैठे हुए भ्रमर उनके सम्पुटों में बन्द हो चुके हैं। बन्द होने के नाते भ्रमर रो रहे हैं। इसी प्रसंग पर कवि कल्पना कर रहा है कि मानों सूर्य के अस्तगमन रूप दु:ख से दु:खित कमल विलाप कर रहे हो, क्योंकि अब उन्हें भी सूर्य के वियोग में ही रात व्यतीत करनी पड़ेगी। व्यवहार में भी परतन्त्र व्यक्ति बहुत दु:खी होता है। प्रकृति के माध्यम से कितनी सहज एवं स्वाभाविक कल्पना है।

---

1. बन्धनभाजोऽमुष्याश्चिकुरकलापस्य मुक्तमानस्य ।
   सिन्दूरितसीमन्तच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ॥ 404 ॥

2. सायं कुशेशयान्तर्मधुपानां निर्यतां नाद: ।
   मित्रव्यसनविषण्णै: कमलैराक्रन्द इव मुक्त: ॥ 658 ॥

अन्त में नायिका के स्तन सम्बन्धी नवीन परिकल्पना प्रस्तुत है-संस्कृत -साहित्य में स्त्रियों का कुच कठोर होना सौन्दर्यपरक माना गया है। इसी पसंग से सम्बन्धित प्रस्तुत कल्पना है। "बाल-वनिताओं के हृदय पर कामदेव ने मुठे बाण से प्रहार तो किया, किन्तु वह उनके हृदय को भेद न सका तथा केवल चोट खाने के कारण दोनों स्तन फूल आये और उठे हुए दिखाई पड़ने लगे। लोक में भी यदि किसी अंग पर चोट लग जाती है तो वह सूज आता है। यह बड़ी ही व्यावहारिक कल्पना है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंगों के द्वारा कल्पनाविधान स्पष्ट हो जाता है।आचार्य गोवर्धन ने कल्पना के रूप में लोकप्रिय उपमानों का ही चयन किया है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि बिम्बविधान एवं कल्पनाविधान के अङ्कन में कवि पूर्ण रूप से सफल रहा है।

- -

1. कामेनापि न भेत्तुं किमु हृदयमपारि बालवनितानाम् ।
मूढविशिखप्रहारोच्छूनमिवाभाति यद्वक्षः ॥ 186 ॥

0 0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0
0

चतुर्थ - अध्याय
आर्यासप्तशती में नायक - नायिका विवेचन

आर्यासप्तशती में नायक-नायिका

नायक-नायिका की विस्तृत विवेचना करना काव्य का आवश्यक अंग माना जाता है। चूँकि नायक-नायिका श्रृङ्गार रस के आलम्बन होते हैं अतएव श्रृङ्गारिक रचनाओं में इनकी विस्तृत झाँकी देखने को मिलती है। लक्षण-ग्रन्थों में नायिकाओं के भेदोपभेद विस्तार के साथ किये गये हैं। गोवर्धनाचार्य ने भी इस परम्परा का पूर्णतः निर्वाह किया है। सम्पूर्ण आर्यासप्तशती नायक-नायिकाओं की चित्रशाला सी दिखाई पड़ती है। नायिकाओं को विशेष अवस्थाओं के अनुसार उनका स्वरूपचित्रण प्रस्तुत किया गया है।

सर्वप्रथम नायिकाओं को तीन भागों में विभाजित किया गया है - स्वकीया (स्वीया), परकीया (अन्या) एवं साधारण स्त्री।[1]

गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती में उपर्युक्त तीनों प्रकार की नायिकाओं का दर्शन कराया है।

स्वकीया-

स्वकीया नायिका शील, लज्जा आदि से युक्त होती है। वह सच्चरित्र, पतिव्रता, अकुटिल, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में बड़ी निपुण होती है। यह स्वकीया मुग्धा, मध्या एवं प्रगल्भा इसप्रकार तीन तरह की होती है।[2]

---

1. " अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति।"
   - सा0द0 3/56

   " स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।"
   - दशरूपक; द्वितीय: प्रकाश:

2. "मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।"
   -दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश:

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विनय, सरलता, एवं सदाचार आदि गुणों से युक्त, घर के कार्यों में तत्पर पतिव्रता नायिका स्वकीया कही जाती है।[1]

काव्यशास्त्रीय दृष्टि में स्वीया नायिका सर्वोत्कृष्ट मानी गई है क्योंकि सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से उसी की मान्यता है। इस प्रकार के गुणों वाली नायिका को गोवर्धनाचार्य ने "गृहिणी" के रूप में स्वीकार किया है।[2] आर्यासप्तशती में इस प्रकार की नायिकाओं के अनेकशः प्रयोग हुए हैं। यथा-

अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोऽनुकूला च ।
अजनि विनीता गृहिणी सपदि सपत्नीस्तनोद्भेदे ।।[3]

यहाँ पर अतिवत्सला, सुशीला, सेवाचतुरा , मनोनुकूला एवं विनीता आदि गृहिणी के गुणों को द्योतित करते हैं अतएव यहाँ पर स्वीया के सारे लक्षण विद्यमान हैं।

---

1. "विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा स्वीया ।"

- सा० द० [3/57]

2. गृहिणीगुणेषु गणिता नियः सेवा विधेयतेति गुणाः।

- आ० स० 203

3. आ० स० 2

स्वकीया नायिका का एक अन्य रूप इस प्रकार द्रष्टव्य है-

गोत्रस्खलितश्रवणेऽप्युत्तरमतिशीतलमितरं दत्त्वा ।

निःश्वस्य मोघरूपे स्ववपुषि निहितं तया चक्षुः ।।[1]

यहाँ पर नायक अपनी गृहिणी की प्रशंसा करते हुए कहता है कि मेरी गृहिणी इतने सौम्य स्वभाव की है कि भूल से मनोवर्तिनी बाला का नाम निकल पड़ने पर (क्रोध के स्थान पर) अत्यन्त शीतल उत्तर(वचन) देकर अपने निष्फल रूप वाले शरीर पर आह भरकर उसने दृष्टि डाली। स्पष्ट है कि नायक अपनी गृहिणी का गुणकथन करता है। यह नायिकागत गुण-कथन है।

इस प्रकार "गृहिणी" का एक अन्य उदाहरण -

जीवामि लंघितावधिदिनेति लज्जावशेन गेहिन्या ।

मयि निहतोऽपि बाष्पैरसंवरर्व्यञ्जितो मानः ।।[2]

यहाँ पर गृहिणी में "धैर्य तथा लज्जा" का गुण विद्यमान है।

गोवर्धनाचार्य ने स्वकीया नायिका के तीनों भेदों- मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा, का समुचित प्रयोग किया है।

- -

1. आ० स० 206

2. आ० स० 238

<u>मुग्धा-</u>

मुग्धा नायिका में लज्जाधिक्य होता है। वह अवस्था तथा कामवासना दोनों में नई रहती है। रति से वह कतराती है तथा नायक से मानादि में क्रोध करने में भी कोमल होती है।[1] आर्यासप्तशती में मुग्धा का चित्रण बड़े कलात्मक रूप में हुआ है यथा-

पतितेऽङ्के स्तनार्पितहस्तां तां निबिडजघनपिहितोरुम् ।

स्वपदविकलितदुकूलात्प्रातश्च्युतदीपां मनः स्मरति ।।[2]

प्रस्तुत आर्या में मुग्धा नायिका के सारे लक्षण विद्यमान हैं। मुग्धा से सम्बन्धित अन्य द्रष्टव्य है।[3]

- -

1. " मुग्धा नववय: कामा रतौ वामा मृदु: क्रुधि ।"

-दशरूपकम्

2. आ० स० प० प्र० 368

3. आ० अ०प्र० 18, अ० प्र० 22 आदि ।

<u>मध्या स्वीया-</u>

मध्या में लज्जा एवं उत्कण्ठा समानकोटिक हो जाती है। इसमें यौवन एवं कामवासना प्राप्त हो चुकी होती है तथा सुरतक्रीडा को वह मोह के अन्त तक सहन कर सकती है।[1] ऐसी मध्या नायिका का उदाहरण आर्यासप्तशती में द्रष्टव्य है-

"अगृहीतानुनयां मामुपेक्ष्य सख्यो गता वर्तिकाहम् ।
प्रश्नं करोषि मयि चेत्त्वदुपरि चतुरष मोक्ष्यामि ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक में मध्या नायिका कितनी चतुराई से अपनी कामासक्ति को नायक से व्यक्त करती है। उसमें लज्जा तथा उत्कण्ठा दोनों समान रूप से व्याप्त है। लज्जा इस रूप में कि वह सीधे रति की स्वीकृति नहीं देती, तथा उत्कण्ठा को वह अपने "अकेलेपन" से द्योतित करती है।

<u>प्रौढ़ा स्वीया-</u>

इस नायिका में लज्जा की न्यूनता एवं काम का आधिक्य होता है। इसमें यौवन का इतना प्रवाह होता है, कि वह मानो अन्धी सी हो जाती है। कामसम्बन्धी भाव भी उसमें इतने अधिक रहते हैं कि जैसे वह उनमें ही पागल हो गई हो। वह बड़ी

---

1. मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ।
— दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश:

2. आ० स० अ० प्र० .32

टी०﴾प्रगल्भा﴿ - लज्जारहित होती है। रतिक्रीडा के समय वह प्रिय के अङ्ग में ऐसी चिप-कती है, जैसे उसमें विलीन हो जायेगी, और रतिक्रीडा में उसे इतना आनन्द आता है कि सुरतक्रीडा की आरम्भिक अवस्था में ही वह अचेतन सी हो जाती है।[1]

आर्यासप्तशती से प्रगल्भा नायिका का दृष्टान्त प्रस्तुत है-

" नेत्राकृष्टो भ्रामं भ्रामं प्रेयान्यथा यथास्ति तथा ।
सखि मन्थयति मनो मम दधिभाण्डं मन्थदण्ड इव ।।"[2]

यहाँ पर प्रौढ़ा नायिका का चित्रण हुआ है। यह नायिका अत्यन्त कामासक्त है। यहाँ पर नायिका विषयिणी रति का आधिक्य है।

परकीया नायिका-

परकीया जिसे दशरूपककार ने "अन्य स्त्री" कहा है;वह दो प्रकार की हो सकती है- किसी की अविवाहित पुत्री﴾कन्या﴿ तथा किसी दूसरे व्यक्ति की परिणीता स्त्री।[3] आचार्य विश्वनाथ ने भी परकीया के दो भेद किये हैं- अन्योढ़ा एवं कन्या।[4]

- -

1. " यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ।।
- दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश

2. आ०स० 344

3. " अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ।"
- दशरूपकम्

4. " परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढ़ा कन्यका तथा ।"
- साहित्यदर्पण 3/66

साहित्य में परकीया नायिका की कामक्रीड़ा का जितना अधिक चित्रण मिलता है उतना स्वकीया का नहीं। यद्यपि काव्यशास्त्रीय एवं लोकसम्मत प्रतिष्ठा स्वकीया की ही मानी गई है। आर्यासप्तशती में भी स्वकीया नायिका की अपेक्षा परकीया का ही चित्रण अधिक मिलता है। परकीया के कुछ विशेष हाव-भाव का उल्लेख यहाँ प्राप्त होता है। इसप्रकार की नायिका में मान,प्रभुता एवं वाणी की चतुराई आवश्यक माना है।[1] परकीया नायिका से समूची आर्यासप्तशती भरी-पड़ी है। यथा-

" अतिविनयवामनतनुर्विलङ्घयते गेहदेहलीं न वधूः ।

अस्याः पुनरारभटीं कुसुम्भवाटी विजानाति ।।"[2]

ऐसी परकीया बाह्य आडम्बर अधिक करती है, किन्तु वास्तव में वे व्यभिचार के प्रति ही उन्मुख होती है। एवंविध नायिकाओं के लिए लोक में प्रचलित यह कहावत कि "हाथी के दाँत दिखाने के और खाने के और" पूर्णतः चरितार्थ होती है। इस प्रकार की नायिका का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है-

" अगणितजनापवादा त्वत्पाणिस्पर्शहर्षतरलेयम् ।

आयास्यतो वराकी ज्वरस्य तल्पं प्रकल्पयति ।।[3]

---

1. मानः प्रभुता वाक्यं विभूषणं वामनयनानाम् ।

- आ० स० 203

2. आ० स० अ० प्र० 16

3. आ० स० 67

ऐसी नायिका वैद्य द्वारा नाड़ी देखते समय आनन्द का अनुभव करती है। फ तभी तो वह ज्वर से पीड़ित रहने पर भी अपनी ज्वर-शय्या स्वयं सजा रही है।

इस प्रकार से परकीया के विभिन्न रूपों को चित्रण आर्यासप्तशती में मिलता है।[1] प्राय: श्रृङ्गार के उद्दाम चित्रण के समय कवि ने परकीया नायिका को ही आलम्बन बनाया है। वैसे भी नायक के लिए परकीया नायिका अधिक प्रिय होती है। नायक को परकीया से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वह स्वकीया से नहीं। गोवर्धनाचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि परकीया से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसके सामने "ब्रह्मानन्द" भी तुच्छ ही होता है-

" असती कुलजा धीरा प्रौढा प्रतिवेशिनी यदासक्तिम् ।

कुरुते सरसा च तदा ब्रह्मानन्दं ' तृणं मन्ये ।।[2]

अब भला ब्रह्मानन्द को तिरस्कृत करने वाली परकीया का अनेकश: चित्रण गोवर्धन क्यों न करते ?

---

1. आ0 स0 10, 120 14, 32, 40, 47, 48, 49, 67, 69, 70, 73, 81, 88, 99, 121, 187, 202, 214, 237, 287, 288, 343, 392, 568 आदि।

2. आ0 सं0 70

साधारण स्त्री (वेश्या)-

तृतीय श्रेणी की नायिका को साधारण स्त्री (वेश्या) कहा जाता है। यह धीरा, कलाचतुरा एवं प्रगल्भा होती है।[1] दशरूपककार ने इसे "गणिका" भी कहा है।[2] इसके व्यवहार का विस्तृत विवेचन तो कामशास्त्रादि में प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ उसका संकेत भर दिया जा रहा है-

" जो लोग छिपकर कामतृप्ति करना चाहते हैं, जिनसे बड़ी सरलता से पैसा ऐंठा जा सकता है, जो बेवकूफ हैं, आजाद हैं, घमण्डी हैं, या नपुंसक हैं, ऐसे लोगों से गणिका ठीक उसी तरह व्यवहार करती है, जैसे वह इनसे सचमुच प्रेम करती हो, किन्तु उसी वक्त तक जब तक कि उनके पास पैसा है। जब वह देख लेती है कि वे गरीब हो गये हैं, तो वह उन्हें अपनी माँ के द्वारा घर से निकलवा देती है।"[3]

आचार्य विश्वनाथ न सामान्या अथवा वेश्या के स्वभाव को ठीक-ठीक चित्रण

- -

1. " धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्य नायिका ।"

- सा० द० 3/67

2. " साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।

- दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश:

3. छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।

रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्नि:स्वान्मात्रा विवासयेत् ।।22।।

- दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश:

किया है।[1] इसप्रकार काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेश्या की कामक्रीडा धनोपार्जन तक सीमित रहती है।

आर्यासप्तशती में साधारणी अथवा वेश्या का अनेकश: उल्लेख हुआ है। वेश्या में मादकता अत्यधिक होती है।[2] वह पुरुषों से सही प्रेम नहीं करती है अपितु बाह्यप्रेम। स्वच्छ अन्त:करण वाले पुरुषों में अपने हृदय को समर्पित करने का स्वाङ्ग रचती है।[3]

वेश्याओं के अनेक दुर्गुणों के कारण गोवर्धनाचार्य ने उनकी संगति न करने

---

1. निर्गुणानपि न द्वेष्टि न ज्यति गुणिष्वपि ।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहि: ।।
कामभङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।
मात्रा नि:सारयेदेषा पुन: संधानकाङ्क्षया ।।

— सा० द० 3/68-69

2. कज्जलतिलककलङ्कितमुखचन्द्रे गलितसलिलकणकेशि ।
नवविरहदाहव्रतो जीवयितव्यस्त्वया कतम: ।।

— आ० स० 172

3. अविनिहितं विनिहितमिव युवसु स्वच्छेषु वारवामदृश: ।
उपदर्शयन्ति हृदयं दर्पणबिम्बेषु वदनमिव ।।

— आ० स० 56

को सलाह दी है-

निजगात्रविशेषस्थापितमपि सारमखिलमादाय ।

निर्मोकं च भुजङ्गी मुञ्चति पुरुषं च वारवधूः ।।[1]

सामान्यवनिताओं के साथ रहने से पुरुष की लोकनिन्दा होती है; अतः लोकनिन्दा से बचने के लिए वेश्याओं की संगति सर्वथा वर्ज्य है।[2]

इसप्रकार जहाँ गोवर्धनाचार्य ने वेश्याओं के बुरे पक्ष का उद्घाटन किया है, वहीं पर उन्होंने इनकी प्रशंसा भी की है-

मृगमदनिदानमटवी कुङ्कुममपि कृषकवाटिका वहति ।

हट्टविलासिनी भवती परमेका पौरसर्वस्वम् ।।"[3]

शब्दार्थ यह है कि कस्तूरी वन में, कुङ्कुम किसान की वाटिका में होता है। हे वाराङ्गने ! एक तुम पुर के लोगों का परमसर्वस्व हो। अर्थात् तुम नागरिकों का परम स्पृहणीय हो।

---

1. आ० स० 328

2. कृत्रिमकनकेनेव प्रेम्णा मुषितस्य वारवनिताभिः ।
   लघुरिव वित्तविनाशक्लेशो जनहास्यता महती ।।
   - आ० स० 160

3. आ० स० - 435

अवस्था- भेद से नायिकाओं के प्रकार

सभी तरह की नायिकाएँ अवस्था-भेद से आठ प्रकार की होती हैं, ये आठ प्रकार हैं- स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया तथा अभिसारिका ।[1]

गोवर्धनाचार्य ने अपनी सप्तशती में उपर्युक्त आठों प्रकार की नायिकाओं का विस्तृत वर्णन किया है। उनका क्रमशः चित्रण इसप्रकार प्रस्तुत है-

स्वाधीनपतिका-

जिस नायिका का पति समीप में रहता हो तथा उसके अधीन होता हुँ, तथा जो नायक की समीपता के कारण प्रसन्न रहती हो, वह स्वाधीनपतिका कहलाती है।[2]

आर्यासप्तशती में स्वाधीनभर्तृका के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। नायक अपनी प्रियतमा को उसीप्रकार हृदय से अलग नहीं कर रहा है जिसप्रकार चन्द्रमा

---

1. स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताथाभिसारिका ।
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका ।।
अन्या वासकसज्जा स्याद् विरहोत्कण्ठिता तथा।।
- सा० द० 3/72-73

" आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ।।23।।"
- दशरूपकम् द्वितीय प्रकाशः

2. "आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।" - दशरूपकम्
कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ।।" - सा०द० 3/74

अपने से भुलाया को-

" अस्तु म्लानिलोको लान्छनमपदिशतु हीयक्षामोज: ।

तदपि न मुन्चति स त्वां वसुधाछायामिव सुधांशु: ।।"[1]

इसीप्रकार स्वाधीनभर्तृका से सम्बन्धित एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—नायक नायिका को शयनागार से नहीं छोड़ रहा है।[2]

वासकसज्जा -

" वासकसज्जा वह नायिका है, जो प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।"[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ में वासकसज्जा के कम उदाहरण प्राप्त होते हैं। तथापि वासकसज्जा के कम उदाहरण प्राप्त होते हैं। तथापि वासकसज्जा के सही - सही चित्र को प्रस्तुत करने के लिए एक उदाहरण इस प्रकार है -

" आवर्तैरार्तमणशोभां डिण्डीपरपाण्डुरैर्दधती ।

गायति मुखरितसलिला प्रियसंगममङ्गलं सुरसा ।।"[4]

नायिका प्रिय के आगमन के समय लोकभय के कारण प्रत्यक्ष रूप से नहीं,अपितु प्रकारान्तर से अपने को सुसज्जित करके मङ्गलगीत गा रही है।

---

1. आ० स० 5 ।
2. अलसयति गात्रमखिलं क्लेशं मोचयति लोचनं हरति ।
   स्वाप इव प्रेयान्मम मोक्तुं न ददाति शयनीयम् ।।
   - आ० स० 54
3. (1) कुरुते मण्डनं यस्या: सज्जितेवासवेश्मनि ।
   सा तु वासकसज्जास्याद् विदित प्रियसङ्गमा ।। - सा०द० 3/85

खण्डिता -

जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध मालुम हो जाय, तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे तो वह "खण्डिता" कहलाती है। खण्डिता को "ईर्ष्याकषायिता" भी कहते हैं।[5]

आर्यासप्तशती खण्डिता के अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

"अश्रौषीरपराधान्मम तथ्यं कथय मन्मुखं वीक्ष्य ।
अभिधीयते न किं यदि न मानयोरानन: कितव: ।।"[6]

अन्य नायिका के संभोग से अपराधी नायक अपनी नायिका से सफाई प्रस्तुत कर रहा है तथा नायिका उस धूर्त नायक को अभिमुख होने के कारण उसे क्षमा करने के लिए बाध्य हो जाती है।

- -

3ब (2) " मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ।। 24।।"
- दशरूपकम् द्वितीय प्रकाश

4. आ0 स0 106

5. "पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नित ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ।।" सा0द0 3/75
"ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।" - दशरूपकम् द्वि0प्र0

6. आ0 स0 28

खण्डिता नायिका का एक चित्ताकर्षक उदाहरण इसप्रकार है-खण्डिता नायिका अपनी सखी से अपने पति के अपराध को बता रही है कि हे सखि! यह मेरा पति मुख में लगे कज्जलादि चिह्नों के होते हुए भी प्रात: मेरे पास आकर झूठ बोल रहा है कि मैं किसी अन्य नायिका से संभोग नहीं किया था।[1]

इस प्रकार खण्डिता नायिका आर्यासप्तशती में बहुश: चित्रित हुई है।[2]

कलहान्तरिता-

जो नायक के अपराध करने पर क्रोधसे उसका तिरस्कार करती है, बाद में अपने व्यवहार के विषय में पश्चाताप करती है, वह कलहान्तरिता नायिका कहलाती है।[3]

कलहान्तरिता नायिका की यह विशेषता होती है कि वह प्रिय के विपरीत आचरण पर कुपित होकर प्रणय-कलह करती है। आचार्य गोवर्धन ने अपनी कृति में प्रणय-कलह को बड़ा महत्त्व दिया है। ऐसा लगता है कि उन्हें नायक-नायिका के इस प्रणय-कलह

---

1. प्रातरुपागत्य मृषा वदत: सखि नास्य विद्यते व्रीडा ।
   मुखलग्नयापि योऽयं न लज्जते दग्धकालिकया ॥
   - आ० स० 357

2. इसी प्रकार अन्य आर्या द्रष्टव्य है - 11,20,50,377 आदि।

3. (1) चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या ।
   पश्चातापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥
   - सा० द० 3/82

(2) " कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।" - दशरूपकम् ।।प्रकाश

में बहुत रस प्राप्त हुआ है, तभी तो उन्होंने कलहान्तरिता के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। जब नायक मिथ्याकोप वाली नायिका से अनुनय-विनय करके थक गया, और उसे मनाने में असफल रहा तो वह चला गया। उस नायक के चले जाने पर नायिका पश्चाताप् करती हुई कहती है-

उपचारानुनयास्ते कितवस्योपेक्षिता: सखीवचसा ।
अधुना निष्ठुरमपि यदि स वदति कलिकैतवायामि ।।[1]

इसी प्रकार कलहान्तरिता का एक अन्य चित्र, जो प्रणय कलह से रसाधिक्य प्रदान करता है इस प्रकार है-

करचरणेन प्रहरति यथा यथाङ्गेषु कोपतरलाक्षी ।
रोषयति पल्लवचनैस्तथा तथा प्रेयसीं रसिक: ।।[2]

क्रुद्ध नायिका जैसे-जैसे अपने हाथों और पैरों से नायक पर प्रहार करती है तो नायक रसप्राप्ति के लिए उसे और कुपित करता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि प्रणय-कलह से प्रणय-व्यापार और बढ़ जाता है।

---

1. आ० स० 120

2. आ० स० 188

विप्रलब्धा -

प्रिय के दत्तसंकेत समय पर उपस्थित न होने पर जो नायिका अपने आपको अत्यधिक अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा कहलाती है।[1]

आर्यासप्तशती में इस नायिका का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" भ्रमरीव कोषगर्भे गन्धहृता कुसुममनुसरन्ती त्वाम् ।
अव्यक्तं कूजन्ती संकेतं तमसि सा भ्रमति ।।"[2]

नायिका प्रिय द्वारा बताये गये संकेतस्थल में इधर-उधर घूमती है किन्तु वह उसे पाती नहीं है।

विप्रलब्धा का एक अन्य प्रसङ्ग इस प्रकार है- नायक से नायिका की सखी कह रही है कि उत्कण्ठायुक्त नायिका तुम्हारे द्वारा दिये गये संकेतस्थल पर पहले ही पहुँचकर तुम्हारी अनुपस्थिति से वह चली गई। सम्प्रति तुम्हारा आलिङ्गन अङ्गराग से युक्त वृक्ष ही करेंगे। अर्थात् तुम्हारे बिलम्ब करने से वह उत्कण्ठिता नायिका वापस चली

- -

1. (1) प्रियः कृत्वापि सङ्केतं यस्यां नायाति संनिधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ।।
- सा० द० 3/83

(2) " विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ।। 26 ।।"
- दशरूपकम् ।। प्रकाश:

2. आ० स० 423

गई । अब तो केवल पछताना होगा ।[1]

प्रोषितप्रिया -

जिस नायिका का प्रिया किसी कार्य से दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया या प्रोषितभर्तृका कहलाती है।[2]

आर्यासप्तशती में संयोग श्रृङ्गार के साथ ही साथ विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भी चित्रण हुआ है। यही कारण है कि यहाँ पर नायिका को प्रिय के वियोग की व्यथा भी सहनी पड़ी है। प्रोषितपतिका का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

---

1. " प्रथमागतसोत्कण्ठ्या विरचलितेयं विलम्बदोषे तु ।
   वक्ष्यन्ति शाङ्गरागाः पथि तरवस्तव समाधानम् ।।"

   - आ० स० 367

2. " नानाकार्यवशायस्याः दूरदेशं गतः पतिः ।
   सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ।।"

   - सा० द० 3/84

   " दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।"

   - दशरूपकम् ।। प्रकाशः

" अङ्के निवेश्य कुपितदृशः शनैस्त्यजति प्रसन्तथा: ।
मोक्ष्यामि वेणिबन्धं कदा नखैर्गन्धतैलाक्तैः ।।"[1]

विदेश से प्रिया के मिलन के लिए उत्कण्ठित प्रिय घर की ओर प्रस्थित होने के बाद किन-किन भावों से व्याप्त रहता है- इसका पूर्ण चित्र यहाँ उपस्थित हो जाता है। चूँकि प्रोषितप्रतिका नायिका अपने केशों को श्रृङ्गार नहीं करती है अत: उसकी वेणी उसके प्रिय के समागम के पूर्व तक वैसी ही बँधी रहती है।

आर्यासप्तशती में प्रोषितभर्तृका नायिका के तीनों भेदों §प्रवसत्पतिका,प्रवत्स्यत्पतिका एवं आगतपतिका§ का उल्लेख प्राप्त होता है। अब तीनों भेदों का क्रमश: उदाहरण प्रस्तुत है। प्रवसत्पतिका का उदाहरण ——

" त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग ।
गण्डस्थलीव तस्या: पाण्डुरिता भवनभित्तिरपि।।"[2]

प्रवत्स्यत्पतिका का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" भवितासि रजनी यस्यामध्वश्रमशान्तये पदं दधतीम् ।
स बलाद्दलयितजङ्घाबद्धां मामुरसि पातयति ।।"[3]

- -

1. आ० स० 39

2. आ० स० 260

3. आ० स० 419

इसी प्रकार आगतपतिका नायिका का उदाहरण प्रस्तुत है-

स्वसदननिकटे नलिनीमभिनवजातच्छदां निरीक्ष्यैव ।

हा गृहिणीति प्रलपंश्चिरागत: सखि पति: पतित: ।।[1]

अभिसारिका नायिका-

" जो नायिका काम के वशीभूत होकर स्वयं नायक के पास अभिसरण करे या नायक को अपने पास बुलवाये, वह अभिसारिका कहलाती है।[2] यह अभिसारिका नायिका रात्रि में नायक के पास अभिसार करती है। यह लोकलज्जा के कारण रात्रि को अभिसरण करने का उचित समय मानती है। जब यह नायिका कृष्णपक्ष में अभिसार करती है तो काले रंग के वस्त्राभूषणों का प्रयोग करती है तथा शुक्ल पक्ष में अभिसार करती है तो श्वेतवस्त्राभूषणों का प्रयोग करती है। इसी कृष्ण-पक्ष एवं शुक्लपक्ष के आधार पर इसे कृष्णाभिसारिका एवं शुक्लाभिसारिका कहते हैं।

प्रस्तुत कृति में अभिसारिका के दोनों रूपों (कृष्णाभिसारिका एवं शुक्लाभिसारिका) का यथास्थान चित्रण हुआ है। सर्वप्रथम कृष्णाभिसारिका का उदाहरण द्रष्टव्य है-

- -

1• आ0 स0 679

2• " अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका।।

- सा0द0 3/76

"मृगमदलेपनमेनं नीलनिचोलेव निशि निषेव त्वम् ।

कालिन्द्यामिन्दीवरमिन्दिन्दिरसुन्दरीव सखि ।।"[1]

शुक्लाभिसारिका का उदाहरण प्रस्तुत है-

"ज्योत्स्नाभिसार समुचितवेषे व्याकोशमल्लिकोत्तंसे ।

विशसि मनो निशितेव स्मरस्य कुमुदत्सरुच्छुरिका ।।"[2]

रसमन्जरीकार भानुदत्त ने दशाभेद के आधार पर नायिकाओं के तीन भेद किये हैं-

1. अन्यसंभोगदु:खिता, 2. गर्विता, 3. मानवती ।

आर्यासप्तशती में इन तीनों नायिकाओं का उल्लेख हुआ है।

1. <u>अन्यसंभोगदु:खिता</u> -

जब नायिका नायक के पास प्रेषित अपनी सखी, दूती या सपत्नी को सुरतचि-ह्नों के कारण नायक द्वारा उपभुक्त अनुमान करती है तो तीव्र वेदना का अनुभव करती है। ऐसी दशा से युक्त नायिका को अन्यसंभोगदु:खिता नायिका कहते हैं। आर्यासप्तशती में इसका उदाहरण द्रष्टव्य है-

"स्वाधीनैरधरव्रणनखाङ्कपत्रावलोपदिनशयनै: ।

सुभगा सुभगेत्यनया सखि निखिला मुखरिता पल्ली।"[3]

---

1. आ० स० 458

2. आ० स० 243

3. आ० स० 613

2• गर्विता-

जब नायिका नायक के व्यवहार से अपने को सौभाग्यशालिनी मानती है तो वह गर्विता कहलाती है।

आर्यासप्तशती से इसका उदाहरण प्रस्तुत है-

" बहुयोषिति लाक्षारूणशिरसि वयस्येन दयित उपहसिते ।

तत्कालकलितलज्जा पिशुनयति सखीषु सौभाग्यम् ।।[1]

यहाँ पर नायिका गर्विता है; क्योंकि नायक बहुत पत्नियों वाला होते हुए भी इस नायिका में अत्यन्त आसक्त होकर उसके सौभाग्य की वृद्धि कर रहा है। यहाँ पर नायक का व्यवहार नायिका के सौभाग्य को सूचित करता है अतः नायिका गर्विता ही है।

3• मानवती-

यह नायिका नायक को चाहते हुए भी बाह्य रूप से मान का प्रदर्शन करती है। आर्यासप्तशती इस नायिका से भूरिशः व्याप्त है। मान श्रृङ्गारिक भावनाओं को जागरित करने का विशिष्ट साधन हुआ करता है अतएव नायक के रतिभाव को जगाने में नायिका का मान करना अत्यन्त महत्त्व रखता है।

1• आ० स० 403

आर्यासप्तशती में मानवती का एक रूप इसप्रकार प्रस्तुत है-

" आलोक एव विमुखी क्वचिदपि दिवसे न दक्षिणा भवसि ।

छायेव तदपि तापं त्वमेव मे हरसि मानवति ॥[1]

नायक मानवती नायिका से कहता है कि यद्यपि तू दर्शन होते ही अपना मुँख फेर लेती हो और कभी अनुकूल नहीं होती, फिर भी तू छाया की भाँति मेरे सन्ताप को दूर करती ही हो। मानवती का एक अत्यन्त सरस उदाहरण दृष्टव्य है-

सव्रीडस्मितमन्दश्वसितं मां मा 'स्पृशेति शंसन्त्या ।

आकोपमेत्य वातायनं पिधाय स्थितं प्रियया ॥[2]

"मुझे मत छूना" तथा "खिड़की बन्द कर लेना" मानवती का विशिष्ट एवं सरस हाव-भाव है। इस नायिका में लज्जा भी है क्योंकि सखियाँ देख रही हैं; तथा मुस्कान एवं मन्दश्वास-युक्त भी है, क्योंकि काम का आविर्भाव हो गया है। मुझे मत छूना- यह इसलिए कहती है कि सखियाँ देख न लें । खिड़की बन्द करके रति के मार्ग को स्पष्ट कर देती है।

---

1. आ0 स0 75

2. आ0 स0 628

नायिका की सहायिकाएँ-

नायक के साथ नायिकाओं का समागम कराने में सहायिकाओं की आवश्यकता होती है। बिना सहायिकाओं के नायक-नायिका का समागम संभव नहीं। काव्यशास्त्र में इन सहायिकाओं का उल्लेख किया गया है। ~~ये सहायिकाओं का उल्लेख किया गया है।~~ ये सहायिकाएँ हैं- दूतियाँ, दासी सखी, धाय की बेटी, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पिनी आदि।[1] काव्यशास्त्र इस बात पर भी जोर देता है कि नायिकाओं को नायकों तक अपना प्रणय-सन्देश पत्र-प्रेषण, स्निग्ध दृष्टिपात, मधुर वार्तालाप एवं दूती आदि द्वारा करना चाहिए।[2]

गोवर्धनाचार्य ने तो नायिका के सन्देश-प्रेषण का प्रमुख माध्यम नायिका के कटाक्ष को ही माना है और इस कटाक्ष के सामने दूतो आदि के प्रयोग को व्यर्थ बताया है।[3] यद्यपि आर्यासप्तशतीकारने नायिका के कटाक्ष को प्रणय-सन्देश-निर्वाह का महत्त्वपूर्ण साधन माना है तथापि उन्होंने काव्य में दूती एवं सखी के महत्त्व को भी नहीं नकारा है। नायक-नायिका के प्रणय-व्यापर में दूती एवं सखी की प्रमुख भूमिका होती है।

---

1. " दूत्य: सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ।
बाला प्रव्रजिता कारु: शिल्पिन्याद्या स्वयं तथा ।। " सा०द०3/128-29

2. " लेख्यप्रस्थापनै स्निग्धैर्वीक्षितर्मृदुभाषितै: ।
दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।।" -सा०द० 3/127-28

3. उज्झितसौभाग्यमदस्फुटयान्त्या नङ्गभीतयोर्यूनो: ।
अकीलितमनसोरेका दृष्टिर्दूती निसृष्टार्था ।।-आ०स० ।28

दूती -

यह नायक-नायिका में परस्पर उतकण्ठा एवं सहानुभूति जाग्रोत करने में निष्णात होती है। यह नायक-नायिका के मान की दशा में ईर्ष्या एवं सन्देह के वातावरण को सहयोग एवं विश्वास में परिवर्तित करने का दुःसाध्य श्रम करती है। वैसे भी दो हृदयों को सम्पृक्त करना दूती के हो बूते की बात है। दूती अपने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को बड़ी चतुराई से सम्पन्न करतो है। यह अपनी वाक्यचातुरी से रूठे हुए प्रेमियों को आसानी से फुसला लेती है। गोवर्धनाचार्य ने दूती के विषय में एक आर्या में कहा है कि यह विभिन्न प्रकार के वचन को रचने वाली होती है ; चन्द्रमा को भो लाकर हाथ में दे देती है §असम्भव कार्य को भी सम्भव करके दिखा देती है§ किन्तु व्यसन के दिनों में साथ नहीं देती है। अर्थात् प्रारम्भ में दो हृदयों को मिला तो देती है किन्तु अन्त में साथ नहीं निभा पाती है।[1] जो भी हो नायक-नायिका की प्रणय-लीला में दूती की भूमिका बहुत सराहनीय होती है। तभी तो गाथासप्तशती दूती का बखान करते हुए बताती है कि यह कर्कश एवं मधुर वचन बोलने में कुशल होती है। यह इतनी चतुरता से कार्य करती है कि साँप भी मर जाता है तथा लाठी भी नहीं टूटती है।[2]

---

1. अयि विविधवचनरचने ददासि चन्द्रं करे समानीय ।
   व्यसनदिवसेषु दूति क्व पुनस्त्वं दर्शनीयासि ।। आ० स० ८

2. दूइ तुमं चिअ कुसला कक्खडमउआइँ जाणसे बोल्लुम ।
   कण्डूइअपण्डुरं जह ण होइ तह तं करेज्जासु ।।
   गाथासप्तशती 2/81

आर्यासप्तशती में नायिका की सहायिका के रूप में दूती के अनेक रूप प्रस्तुत किये गये हैं। कभी यह दूती नायक से नायिका की विरह-वेदना का वर्णन करते हुए कहती है कि जिसकी अङ्गकान्ति नष्ट हो चुकी है, वह प्रिया, बर्फ के समान शीतल कोमल शय्या पर तुम्हारे विरह से अत्यन्त हिम के कारण शीतल हिमालय के पृष्ठ प्रदेश पर प्रत्येक रात, छायाशून्य औषधि की तरह जलती रहती है।[2] कहीं पर यह दूती नायक को आकर्षित करने के लिए नायिका के गुणों को बखान करती है,[3] कहीं पर किसी नायक से मिलाने के लिए बहकाते हुए कहती है कि हे साहसकारिणि ! तुम्हारे कटाक्ष से वह रास्ते कंस्पृष्ट हुआ। यह बड़े दुःख की बात है, क्योंकि वह तपस्वी एवं ब्राह्मण है, उसके यज्ञोपवीत से क्या तुम्हें ज्ञान नहीं हुआ ? अब तुम्हें उसे जीवनदान देना होगा नहीं तो ब्रह्म-हत्या का दोष लगजायेगा।[4] दूती नायिका को निर्भय अभिसार करने के लिए प्रेरित करती है।

---

2. आ० स० 638

3. अगणितमहिमा लङ्घितगुरुस्नेहः स्तनंधयविरोधी ।
   इष्टाकीर्तिस्तस्यास्त्वयि रागः प्राणनिरपेक्षः ।।
   - आ० स० 10

4. आ० स० 162

यह अपराधी नायक के अपराध को नायिका से क्षमा करवा देती है। इसप्रकार यह अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूप से निर्वाह करती है। आर्यासप्तशती के अनुसार इसका प्रमुख कार्य नायक नायिका का संयोग कराके वहाँ से चला जाना है।[1] गाथासप्तशती में भी हमें दूती के इन्हीं कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है वहाँ भी यह दूती नायिका से नायक की दशा का वर्णन करती है,[2] मानिनी नायिका को उचित शिक्षा देती है कि अत्यधिक मान से प्रेम नष्ट हो जाता है।[3] दूती कभी-कभी अपने इस भूमिका से तंग आ जाती है क्योंकि नायक-नायिका के मान को दूर करते समय कभी वह स्वयं तिरस्कृत हो जाती है।[4]

1• उपनीय प्रियमसमयविंद च मे दुग्धभानमपनीय ।
नर्मोपक्रम एव क्षणदे दूतीव चलितासि ।। आ० स० 137

2• सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णम् ।।

– गाथा० 1/84

3• सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति ।
माणो उण माणंसिणि गरूओ पेम्मं विणासेइ ।।

– गाथा० 6/21

4• परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि ।
चिरजीविएण इमिणा खविअम्हो दड्ढकाएण ।।

– गाथा० 2/34

इस प्रकार आर्यासप्तशती में दूती की पूर्ण ~~का~~ व्याख्या की गयी है और उसकी यह व्याख्या गाथासप्तशती में विवेचित दूती से पूर्णतया मिलती है। पूरी आर्या-सप्तशती में दूती नायक-नायिका में प्रणय-व्यापार को जारी रखने में प्रयासरत दिखाई पड़ती है। अब भला ऐसी गुणवती दूती को गोवर्धनाचार्य क्यों न महत्त्व देते ?

सखी--

नायक-नायिका की सहायिका के रूप में दूती की ही भाँति सखी का भी महत्त्व है। आर्यासप्तशती में तो सखी की भूमिका दूती से भी अधिक सराहनीय है। कभी नायक से नायिका के प्रेमाधिक्य का वर्णन करती है,[1] कभी नायिका की विरह-वेदना नायक तक पहुँचाती है,[2] कभी नायक को नायिका के प्रति आकर्षित करने में सहयोग देती है,[3] कभी नायिका से अभिसार के समय को बताती है।[4] अमरूशतकम् में भी प्रेमियों को परस्पर आकृष्ट करने का कार्य सखी ही करती है। सखी सदैव मानिनी

- -

1. एकं जीवनमूलं चन्चलमपि तापयन्तमपि सततम् ।
अन्तर्वहति वराकी सा त्वां नासेव निःश्वासम् ।।
आ० स० 147

2. अनुरागवर्तिना तव विरहव्योगेण सा गृहीताङ्गी ।
त्रिपुररिपुणेव गौरी वरतनुरर्धावशिष्टैव ।। आ० स० 23 ।।

3. आ० स० 46, 33 आदि

4. आ० स० 136

को पति के प्रति अनुकूल व्यवहार करने का उपदेश देती है। नायक के दुर्वचन से प्रकुपित नायिका को सखी समझाते हुए कहती है- दूसरे के मुख का अप्रिय वचन तो दुर्वचन कहा जाता है, किन्तु वही वचन प्रिय द्वारा कहे जाने पर रन्जक वचन माना जाता है। यह बात ठीक उसीप्रकार है जैसे अन्य इन्धन से उत्पन्न होने के कारण जो धुआँ कहलाता है वही अगरु से उत्पन्न होने पर धूप कहलाता है। अतएव प्रिय की बातों से रूष्ट नहीं होना चाहिए। कहीं पर यह सखी अभिसार के बाधक तत्त्वों को बताते हुए कहती है- हे कामिनी! गतिनिरोध, लड़खड़ाना, शिथिलता, कम्पन, प्रिय का चिन्तन, मार्ग-मार्ग में आकाशलिङ्गन आदि सभी अभिसार के बाधक हैं अतएव अभिसार के समय ऐसा नहीं करना चाहिए।" इसप्रकार सखी नायक-नायिका के प्रणय-प्रसङ्ग में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

---

1. अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ।
   इतरेन्धजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ।। आ0स0 13 ।।

इस आर्या को " अमरू-शतकम्" के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव ने अपनी "रसिकसञ्जीवनी" टीका में 8 वें श्लोक की व्याख्या में उद्धृत किया है। इस श्लोक में भी सखी खिन्न नायिका को समझा रही है-

" नार्यो मुग्धशठा हरन्ति रमणं तिष्ठन्ति नो वारिता -
एतत्किं ताम्यसि किं च रोदिषि मुधा तासां प्रियं मा कृथाः ।
कान्तः केलिरुचिर्युवा सहृदयस्तादृक्पतिः कातरे ।
किं नो बर्बरकर्कशैः प्रियशतैराक्रम्य विक्रीयते ।।

अमरूशतकम् -8 वाँ श्लोक

नायक

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नायक चार प्रकार के होते हैं- अनुकूल, धृष्ट, दक्षिण एवं शठ ।

अनुकूल नायक -

जो नायक एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है अर्थात् जो नायक एक-पत्नीव्रत होता है, वह अनुकूल नायक होता है।[1]

आर्यासप्तशती में अनुकूल नायक के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। नायिका सदैव अनुकूल नायक की प्रशंसा ही करती है अर्थात्, उसमें सब गुण ही गुण दिखाई देता है। इस प्रकार का एक प्रसङ्ग द्रष्टव्य है -

" नोत्तपते न स्नेहं हरति न निर्वाति न मलिनो भवति ।
तस्योज्ज्वलो निशि निशि प्रेमा रत्नप्रदीप इव ।।"[2]

प्रस्तुत आर्या में अनुकूल नायक का चित्रण हुआ है; क्योंकि नायिका को इस नायक में सब गुण ही गुण दिखाई पड़ रहा है। नायिका कहती है कि नायक का प्रेम प्रत्येक रात सम

---

1. " अनुकूलस्त्वेकनायिकः।"

- दशरूपकम् द्वितीय: प्रकाश:

2. आ0 स0 317

ही रहता है, न प्रीतिनाशक होता है, न नष्ट होता है, न मलिन होता है। इसकी दशा वैसी ही है जैसे रत्नप्रदीप न दाहक, न तैलनाशक, न कज्जलदायक, न नष्ट होता है, रात में प्रकाश ही देता रहता है। इसप्रकार नायिका अनुकूल नायक की प्रशंसा करती है। दशरूपककार ने अनुकूल नायक के प्रसंग में उत्तररामचरित के रामचन्द्र को उद्धृत किया है।[1] अनुकूल नायक का एक अन्य प्रसंग इस प्रकार है- नायिका नायक के सौन्दर्यादिगुणों को सखी से बताती है कि मेरा प्रियतम सुन्दर, वक्रोक्तिकुशल, कामकलाविज्ञ है- यह बात तो सत्य एवं निश्चित है किन्तु इन सबके बावजूद वह अपवाद शून्य, द्वितीय तरुणी को नहीं जानता जैसे सुन्दर, वक्र, कलाधर निष्कलङ्क प्रतिपच्चन्द्र द्वितीयानामक तिथि को नहीं जानता है।[2]

- -

1. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।

2. सत्यं मधुरो नियतं वक्रो नूनं कलाधरो दयितः ।
स तु वेद न द्वितीयामकलङ्कः प्रतिपदिन्दुरिव ।।

- आ0 स0 681

धृष्ट नायक -

कभी नायक छिप छिपकर कनिष्ठा नायिका के साथ शृङ्गारचेष्टाएँ करता है, और उसकी इन चेष्टाओं का निशान उसके शरीर पर लगा रहता है। ज्येष्ठा नायिका के सामने जब, उसके ये अङ्गविकार प्रकट हो जाते हैं और उसे नायक की छिपकर की गई सारी चेष्टाओं का भान हो जाता है, तो नायक धृष्ट कहलाता है। धृष्ट नायक अपराध करके भी शङ्कित नहीं होता।[1]

चूँकि आर्यासप्तशती अत्यन्त शृङ्गारिक ग्रन्थ है अतएव यहाँ पर इसप्रकार के नायक का आधिक्य है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

" हससि चरणप्रहारे तल्पादपसारितो भुवि स्वपिषि ।

नासङ्गेऽपि कृते प्रिय मम हृदयात्त्वं विनिःसरसि ।।"[2]

यहाँ पर अनुचित आचरण करने वाले नायक से नायिका कह रही है कि मेरे पादप्रहार से तुम दुःखी न होकर हँसते हो, शय्या पर से हटा दिये जाने पर भूमि पर लेट जाते हो। इसप्रकार तुम मेरे द्वारा अपमानित किये जाने पर भी हृदय से नहीं निकलते हो अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरा प्यार बना रहता। निश्चित ही यह धृष्टनायक का उदाहरण है।

---

1. " व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो ।"

दशरूपकम् द्वितीयः प्रकाशः

2. आ० स० 699

धृष्ट नायक का एक प्रसङ्ग इस प्रकार है- नायक पराङ्गनासक्त है। नायिका की सखी ऐसे नायक को फटकार लगा रही है। सखी नायक से कहती है कि हे धूर्त ! तुम जैसा चाहो वैसा मेरी सखी को कह लो। तुम गलती करके क्यों छिपा रहे हो। जाओ, मेरी सखी ही एकमात्र ऐसी स्त्री है जो तुम्हारे कृत्यों को जानकर भी सहन कर लेती है। चूँकि यह बेचारी तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकती है अतएव तुम्हारा उसके प्रति किया गया आचरण निन्द्य है।[1]

आर्यासप्तशती में एक स्थान पर खण्डिता नायिका अपनी सखी से धृष्ट नायक के अपराधों को बताती है कि हे सखि ! इस धृष्टको प्रातः मेरे पास आकर झूठ बोलते हुए शर्म नहीं आती। यह रातभर अन्य स्त्री के साथ रति करके उसके चिह्नों से युक्त होकर प्रातः मेरे सम्मुख आकर लज्जित नहीं हो रहा है।[2] अमरुकशतक में भी धृष्ट नायक का इसीप्रकार एक प्रसंग द्रष्टव्य है- नायक परस्त्रीसंभोग के चिन्हों से चिन्हित होकर मानिनी नायिका के सम्मुख आता है उस समय वह खण्डिता नायिका अपने ईर्ष्याजन्य विकारों को छिपाने के लिए सूँघने के बहाने लीलाकमल को अपनी नाक से लगा लिया।[3]

---

1. आलप यथा यथेच्छसि युक्त तव कितव किमपवारयसि ।
   स्त्रीजातिलाञ्छनमसौ जीवितरङ्का सखी सुभग ।।

   – आ० स० 96

2. आ० स० 357

3. लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
   वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
   .....अमरुकशतकम् –60 वाँ श्लोक

अमरूशतक का यह प्रसंग आर्यासप्तशती के उपर्युक्त प्रसंग से पर्याप्त सामन्जस्य रखता है । अन्तर केवल इतना है कि वहाँ पर नायिका नायक को उलाहना देकर अपने को शान्त करती है और इस प्रसंग में नायिका नायक को ~~प्रारम्भ करके है आ~~ उलाहना न देकर स्वयं अपने ईर्ष्याजन्य भावों को लीलाकमल के बहाने छिपाने की कोशिश करती है।

शठ नायक -

"शठ नायक वह है, जो ज्येष्ठा नायिका का बुरा तो करता है किन्तु छिप-छिप कर करता है। नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर शठ कोटि का नायक पहली नायिका से डर-डर कर छिपी शृङ्गारचेष्टाएँ किया करता है।[1] इस प्रकार शठ नायक प्रेम करता है किसी से और जताता किसी से है।

शृङ्गारिक ग्रन्थों में इस कोटि के नायक की भरमार रहती है। यही कारण है कि आर्यासप्तशती में भी शठ नायक का आधिक्य है। शठ नायक सम्बन्धी एक प्रसंग इस प्रकार है-"नायिका की सखी नायक से कह रही है कि सर्वप्रथम तुम सज्जनता दिखाकर अपने कठोर हृदय से अन्यनायिकासंभोगादि रूप चंचलता को बढ़ाते ही जाते हो तथा अपने इस प्रकार के आचरण से मेरी सच्चरित्र सखी को दुःखी करके क्यों दुर्वचन के लिए बाध्य करते हो

- -

1. गूढ़विप्रियकृच्छठः ।

- दशरूपकम् द्वितीय: प्रकाश:

अर्थात् तुम्हारा इसप्रकार का व्यवहार श्लाघ्य नहीं।[1] इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शठ नायक है।

आर्यासप्तशती का एक अन्य प्रसंग इस प्रकार है- नायक से नायिका कह रही है- हे सुभग ! तुम्हारा अन्यरमणी के साथ किया गया संभोगरूप अपराध मुझे उतना दु:खी नहीं करता, जितना तुम्हारा कपटपूर्णवचन। तुम अपने अपराध को छिपाने के लिए चिकनी-चुपड़ी बाते करने में पटु हो। मैं तुम्हारे अपराध को तो क्षमा कर देती किन्तु तुम्हारे कपटपूर्णवचन मुझे अधिक कष्ट कर देते हैं। शस्त्राघात उतनी पीड़ा नहीं देता जितना सुई की चुभन वेदना देती है।[2] यहाँ पर नायक शठ है तथा नायिका खण्डिता है।

शठ नायक के उपर्युक्त प्रसंग से एकदम मिलता-जुलता प्रसंग गाथासप्तशती से उद्धृत है- नायिका नायक के अपराध को जानने के बाद कहती है कि विश्वास करो, तुम्हारे अपराधों से मुझे उतना दु:ख नहीं होता जितना तुम्हारे निष्प्रेम मधुर वाणी से। अर्थात् तुम ऊपर से तो मधुर वचन बोलते हो किन्तु अन्दर से घात करते हो।[3]

---

1. अतिचापलं वितन्वन्नन्तर्निविशन्निकामकाठिन्य: ।
   मुखरयसि स्वयमेतां सद्वृत्तां शङ्कुरिव घण्टाम् ॥
   - आ० स० 6

2. अपराधादधिके मां व्यथयति तव कपटवचनरचनेयम् ।
   शस्त्राघातो न तथा सूचीव्यधवेदना यादृक् ॥ -आ०स० ॥

3. अवराहेहिं वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिं दुम्मेसि ।
   अवहत्थिअ सब्भावेहिं सुहअ दक्खिण्णभणिएहिं ॥
   - गाथासप्तशती 4/53

आर्यासप्तशती में शठ नायक का एक अन्य चित्र इसप्रकार चित्रित हुआ है-"नायिका को इस बात की जानकारी हो जाती है कि उसके नायक के पास अन्य स्त्री भी आती है।इस बात से नायिका खिन्न है। ऐसी खिन्न नायिका को नायक अपने वाक्यचातुरी से शान्त्वना दे रहा है कि दूसरी स्त्री तो भ्रमरी की तरह आती जाती है, खेद उत्पन्न करती है तथा मकरन्द को ले जाती है। अर्थात् उससे मुझे कोई सुख नहीं प्राप्त होता है। कमल की, लक्ष्मी के समान मेरे मन की तू ही अधिदेवता है । तुम्हें मेरे इसप्रकार के व्यवहार से कदापि खिन्न नहीं होना चाहिए।"[1]

इसीप्रकार शठ नायक के अनेक प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं ।[2]

<u>दक्षिण नायक -</u>

" दक्षिण नायक वह है जो नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता, तथा उसे इस बात का अनुभव नहीं होने देता , कि वह कुछ उदासीन हो गया है, संक्षेप में वह पूर्वा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी हृदय से व्यवहार करता है।"[3]

---

1. आयाति याति खेदे करोतिमधु हरति मधुकरीवान्या ।
   अधिदेवता त्वमेव श्रीरिव कमलस्य मम मनसः ।। - आ0स0 82

2. आ0 स0 33, 252, 383 आदि आर्याएँ ।

3. दक्षिणोऽस्यां सहृदयः ।
   - दशरूपकम् द्वितीयः प्रकाशः

आर्यासप्तशती में दक्षिण नायक का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" सखि चतुराननभावादेमुखं क्वापि नैव दर्शयति ।

अयमेकहृदय एव द्रुहिण इव प्रियतमस्तदपि ।।"[1]

नायिका अपनी सखी से कह रही है कि हे सखि ! मेरा प्रियतम विधाता के समान समानरूप से देखने वाला है। जिसप्रकार ब्रह्मा के चारमुख होते हुए भी एक ही हृदय है,उसीप्रकार मेरा प्रियतम सभी सपत्नियों में चतुराई से सरसता दिखाता है किन्तु उसका हृदय अकेले मुझमें ही रहता है। आर्यासप्तशती में एक स्थान पर दक्षिण नायक कभी प्रथम पत्नी के विलासों को सोचता है तथा कभी द्वितीय पत्नी के विलासों को सोचता है। इस प्रकार दोनों पत्नियों की दशा पर चिन्तित होता है।[2] यहाँ चूँकि नायक दोनों पत्नियों के सम्मान पर चिन्ता व्यक्त करता है अतः यह दक्षिण नायक ही है।

दक्षिण नायक का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है -

कौलीन्यादलमेनां भजामि न कुलं स्मरः प्रमाणयति ।

तद्भावेन भजतो मम गोत्रस्खलनमनिवार्यम् ।। [3]

---

1. आ० स० 680

2. बालाविलासबन्धान्भ्रमवन्मनसि चिन्तयन् पूर्वम् ।

संमानवर्जितां तां गृहिणीमेवानुशोचामि ।।

— आ० स० 410

3. आ० स० 191

चूँकि यहाँ नायक दोनों नायिकाओं को सन्तुष्ट करता है अतः दक्षिण नायक है। वह कहता है कि मैं इस नायिका का संभोग उस कुलवती की कुलीनता के भाव से करता हूँ क्योंकि कामदेव कुल को (ऊँचा अथवा नीचा) नहीं मानता। मैं उसी कुलवती की भावना से इसका संभोग करता हूँ, अतः मेरा गोत्रस्खलन अनिवार्य है। इसी प्रकार दक्षिण नायक का एक अन्य रूप द्रष्टव्य है -

" निहितायामस्यामपि सैवैका मनसि मे स्फुरति ।
रेखान्तरोपधानाद्यात्पत्राक्षरराजिरिव दयिता ।।"[1]

यहाँ नायक प्रथम नायिका की सखी से कह रहा है कि यद्यपि मन में यह द्वितीय नायिका निहित है तथापि वही एक प्रिया स्फुरित होती है- उसी की शोभा इससे बढ़ती है- उसी में मेरी आसक्ति है। जैसे पत्राक्षर की पंक्ति के ऊपर रेखान्तर-विधान से उसी पत्राक्षर पंक्ति की शोभा बढ़ती है। चूँकि यहाँ पर वर्णित नायक प्रथम नायिका तथा द्वितीय नायिका दोनों को सन्तुष्ट करता है अतः यह दक्षिण नायक है।

- -

1. आ० स० 337

0 0 0 0 0
0 0 0
0
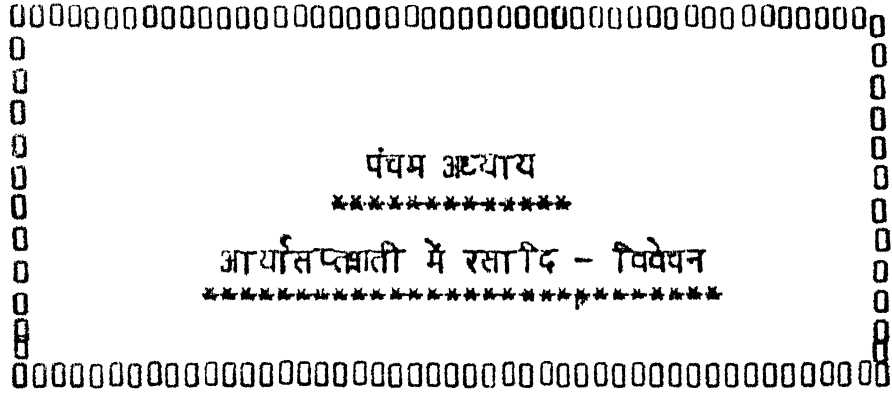
पंचम अध्याय

आर्यासप्तशती में रसादि - विवेचन

रसादि - विवेचन

मानव - जीवन की बहुआयामी समग्र अभिव्यक्ति ही काव्यचेतना का मूलस्वर है। काव्यस्रष्टा जिस समय रसप्लावित अनुभूतियों की पराकाष्ठा पर पहुँचता है और उस चरमसीमा पर पहुँचकर जब विगलितवेद्यान्तर रसानुभूतियों को आत्मसातकर सम्हालने में कुछ असमर्थ सा होने लगता है अथवा आकण्ठ उन सहानुभूतियों से निमग्न हो जाता है किन्तु फिर भी उसके पश्चात् रसानुभूतियों की अविरल धारा का प्रवाह उद्दाम आवेग के साथ चलना बन्द नहीं होता है तो फिर कविकण्ठ से छलकी हुई वे ही सहानुभूतियाँ जब शब्दार्थ के सहयोग से कवि की लेखनी से लोकोत्तर पदविन्यास के रूप में उतरने लगती है, तो वही रसप्लावित लोकोत्तर-पद-विन्यास संबलित कवि-कर्म काव्यपद वाच्य हो जाता है। काव्य कहलाने लगता है।।

काव्य कवि का कर्म होता है।[1] ऐसी स्थिति में कवि जैसा होगा उसका काव्य भी वैसा ही होगा। यह भी ध्यातव्य है कि जैसे सृष्टिकर्ता सृष्टि करके अपने आपको समूची सृष्टि में बिखेर देता है, ऐसे ही रचनाकार काव्सर्जना करके अपने समूचे व्यक्तित्व के बहिरंग एवं अन्तरंग समस्त धर्मों को किंवा संचेतना की प्रत्येक आकृतियों को अपनी सर्जनाओं में ऐसे बिखेर देता है कि वीणा के तारों के समान एक तार छुआ नहीं कि सरगम की सप्तों

---

1. " कवेः कर्म इति काव्यम्।"
 " काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि कर्म - का0 प्र0 1/2 पर वृत्ति

ध्वनियाँ एक साथ झंकृत हो उठती हैं। पुनश्च जैसे अपनी सृष्टि में खोया हुआ' सृष्टिकर्ता सृष्टि के लिए रहस्य होने के कारण निरन्तर अनुसन्धान का विषय बना हुआ है, ऐसे ही अपनी कृतियों में बिखरा हुआ काव्यस्रष्टा भी अपने पाठकों के लिए रहस्यमय होने के कारण अनुसन्धान का विषय बन जाता है। कवि एवं काव्य का परस्पर वही सम्बन्ध है जो सृष्टिकर्त्ता एवं सृष्टि का सम्बन्ध। परन्तु सृष्टिकर्त्ता और काव्यसृष्टा में काव्यस्रष्टा एक पग कुछ आगे दिखाई देता है। कारण स्पष्ट है कि सृष्टिकर्त्ता प्रजापति जीवों केकर्मों के अनुसार ही उन्हें कार्यफल का भोग कराने हेतु यथोचित सृष्टि करता है, किन्तु कवि-प्रजापति इस नियतिकृतनियमों से परे दिखाई पड़ता है। यही नहीं प्रजापति की सृष्टि में तो जहाँ सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों का समन्व होने से उसकी सृष्टि सुखदुःखमय है, वहाँ कवि प्रजापति की सृष्टि आद्यन्त रस से सराबोर होने के कारण आह्लादमय होती है, किंवा आनन्दमय होती है ।।

- -

1• अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ।।

" अग्निपुराण "

जैसे सृष्टिकर्ता की सृष्टि में उसकी सर्वोत्तम कृति मानव है। मानव के क्रिया कलापों का केन्द्र बिन्दु उसका मन है जिसकी उपस्थिति के बिना संसार में कुछ हो ही नहीं सकता।[1] प्रजापति की सृष्टि के समानान्तर कवि की काव्य रचना भी है। उसके काव्य के प्राणभूत भाव और रस मानव मन की ही अनेकधा अभिव्यक्ति है। सच बात तो यह है कि जैसे "मन" के बिना संसार नहीं है वैसे ही रस के बिना काव्यार्थ का प्रवर्तन नहीं हो सकता।[2]

---

1. " मनसो ह्युन्मनी भावे द्वैतं न प्रसज्यते ।"

- शङ्कराचार्य

2.(1) न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

- भरत

(2) " काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् ।"

- भट्टनायक

कवि के हृदय में प्रोच्छलित रसधारा का सिन्धु होता है, उसके हृदय में जिस रस की जैसी उत्ताल-तरंगें उठती हैं, जिस रस की जैसी अनुभूति वह करता है वह सब कुछ उसके काव्य में अविरल रूप से प्रवहमान मिलता है। यदि कवि रसराज श्रृंगार में आकण्ठ डूबा हुआ है तो उसकी सम्पूर्ण रचना रसप्लावित हुए बिना नहीं रह सकती , किन्तु यदि कवि वीतराग हुआ तो उसका काव्य नीरसता से बच भी नहीं सकता है।[1] कहना न होगा कि गोवर्धनाचार्य के हृदय में लगता है केवल रसराज श्रृंगार की अखण्डधारा उद्दाम वेग के साथ प्रवाहित हुई है। यही नहीं उनका भक्तिरस भी श्रृंगार की ही रंगशाला में डूबा हुआ सा लगता है। ऐसी स्थिति में यदि गोवर्धनाचार्य की आलोच्यकृति आर्यासप्तशती में श्रृंगार की अमन्द-मन्दाकिनी उत्ताल तरंगों के साथ प्रवाहित हो रही है तो कोई आश्चर्य नहीं।

जहाँ तक आचार्य गोवर्धन की आलोच्य कृति "आर्यासप्तशती" में रसादि विवेचन का प्रश्न है तो यह बहुत कुछ स्पष्ट है। आर्यासप्तशतीकार अलङ्कारादि काव्य के बहिरंग तत्त्वों की अपेक्षा गुण-रसादि उसके अन्तरंग तत्त्वों को अधिक महत्त्व देते हैं । यही नहीं वह अर्थतत्त्व में अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को इतना महत्त्व देते हैं कि इनकी दृष्टि में व्यंग्यार्थ के समक्ष अन्य अर्थ बौने लगते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि

- -

1. 'शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत् ।।

ध्वन्यालोक 3/3

व्यंग्यार्थ शून्य काव्य चाहे वह अलंकारादि बहिरंग तत्त्वों से कितना भी अलंकृत क्यों न हो, सहृदयों के लिए ऐसे ही ग्राह्य नहीं होते जैसे विलास-सदन में उपस्थित लीलाविलासादि स्वभावज अलंकारों एवं श्रृंगारादि मधुर चेष्टाओं से शून्य कामिनी-कटक कुण्डलादि आभूषणों से अंग प्रत्यंग से सजी होने पर भी सहृदय नायक के लिए कथमपि ग्राह्य नहीं होती।[1] यही कारण है कि प्रस्तुत कृति में प्रमुख रूप से श्रृंगार रस की धारा आद्यन्त प्रवाहित है। यद्यपि ग्रन्थारम्भ में आराध्यविषयक स्तुतियों में भक्ति-रस की झलक आपाततः मिलती है परन्तु विचार करने पर ये सारी स्तुतियाँ भी श्रृंगार की ही परिधि में आकर सिमट जाती हैं।[2]

1· §1§ अकलितशब्दालंकृतिरनुकूला स्खलितपदनिवेशापि ।
अभिसारिकेव रमयति सूक्तिः सोत्कर्षश्रृंगारा ।। आ० स० 47

§2§ अध्वनि पदग्राह्यरं मदयति हृदयं न वा न वा श्रवणम् ।
काव्यमभिज्ञसभायां मंजीरं केलिवेलायाम् ।। आ० स० 48

§3§ रतरीतिवीतवसना प्रियेव शुद्धापि वाङ्मुदे सरसा ।
अरसा सालंकृतिरपि न मम रोचते शालभन्जीव ।। आ० स० 54

2· §1§ श्रीकरपिहितं चक्षुः सुखयतु वः पुण्डरीकनयनस्य ।
जघनमिवेक्षितुमागतमब्जनिभं नाभिसुषिरेण ।। आ० स० 10

§2§ चण्डीजंघाकाण्डः शिरसा चरणस्पृशि प्रिये जयति ।
शंकरपर्यन्तजितो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ।। आ० स० 18

इस प्रकार इस कृति में काव्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत रसों में से केवल् श्रृंगार रस का ही वर्णन है। स्पष्ट है कि आचार्य प्रवर ने काव्य की आत्मा श्रृंगार रस को ही स्वीकार किया है। तभी तो कवि अपनी श्रृंगारिक प्रतिभा तथा काव्य की उत्कृष्टता बताते हुए कहता है कि जिसने प्रिया के अधर-सुधारस का आस्वादन किया है उसी कवि के काव्य [अधर-सुधारस से आप्यायित हृदय से निकलने के कारण] मधुर होते हैं। जिस कोकिल ने आम की रसभरी मंजरी का आस्वादन नहीं किया है वह मधुर ध्वनि नहीं करता।[1] कवि को अपने श्रृंगाररस से ओतप्रोत ग्रन्थ पर गर्व है। उनके अनुसार श्रृंगाररस प्रधान काव्य करना बहुत दुष्कर है, क्योंकि इसके भावों को जानने में अन्य कवि भी बालकों की भाँति अनभिज्ञ सा दिखाई देते हैं।[2] इस प्रकार प्रस्तुत कृति में कवि ने श्रृंगार रस को रसराज के रूप में स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा के रूप में सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय, भावशान्ति एवं भावशबलता आदि का भी वर्णन आद्यन्त यथास्थल उपलब्ध होता है। रसादि के अन्तर्गत सर्वप्रथम श्रृंगाररस की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

---

1. आस्वादितदयिताधरसुधारसस्यैव सूक्तयो मधुराः ।
   अकलितरसालमुकुलो न कोकिलः कलमुदञ्चयति ।।
   आ० स० 49

2. बालाकटाक्षसूत्रितमसतीनेत्रत्रिभागकृतभाव्यम् ।
   कविमाणवका दूतीव्याख्यातमधीयते भावम् ।।
   आ० स० 50

श्रृंगाररस :-

काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा स्वीकृत समस्त रसों में रसराज "श्रृंगार" को प्रथम रस-प्रकार माना गया है। चूँकि रस-संख्या का निर्धारण पुरूषार्थ चतुष्टय से सम्बद्ध है, इनमें काम की ओर प्राणिमात्र की प्रवृत्ति स्वाभाविक होने के कारण श्रृंगार रस को निर्विवाद रूप से प्रथम स्थान पर रखा गया है।[1] श्रृंगार शब्द "श्रृंग" तथा "आर" इन दो शब्दों के योग से हुआ है। कामदेव के उद्भेद को आचार्य विश्वनाथ ने "श्रृंग" कहा है। इसी शब्द की भित्ति पर आचार्य विश्वनाथ श्रृंगार की परिभाषा इस प्रकार करते हैं- कामदेव का उद्रेक "श्रृंग" कहा जाता है और इसके आगमन का कारण ही श्रृंगार रस कहा जाता है।[2] इसी प्रकार आचार्य भरत भी इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि सुखप्राय, प्रिय वस्तुओं से युक्त ऋतु एवं माल्यादि का सेवन करने वाले स्त्री-पुरूष से युक्त रस को श्रृंगार

- -

1. तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वं श्रृंगारः।" - अभिनवभारती 6/16

2. (1) 'श्रृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः' श्रृंगार इष्यते ।। सा० द० 3/183

(2) 'श्रृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
पुरूषप्रमदाभूमिः श्रृंगार इति गीयते ।।

का० प्र० 4/29 पर बालबोधिनीटीका ।

कहते हैं। दशरूपककार ने श्रृंगार रस की और व्यापक परिभाषा दी है-"परस्पर अनुरक्त युवा युवा नायक - नायिका के हृदय में रम्य, देश, काल , वेष,भोग इत्यादि के सेवन से आत्मा का प्रमुदित होना रति है, और जब यही रति नायक या नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं द्वारा पुष्ट होती है तो श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है।"[3] इन समस्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि युवक का युवती तथा युवती का युवक के प्रति संयोग विषयक रतिक्रिडादि विषयिणी जो स्पृहा है, वही श्रृंगार रस है।

---

1. सुखप्रायेषु सम्पन्न: ऋतुमाल्यादिसेवक: ।
   पुरुष: प्रमदायुक्त: श्रृंगार इति संज्ञित: ।।

   ना० शा० 6/46

3. रम्यदेशकलाकाल वेषभोगादिसेवनै: ।
   प्रमोदात्मा रति: सैव यूनोरन्योन्यरक्तयो:।
   प्रहृष्यमाणा / श्रृंगारो मधुरांगविचेष्टितै: ।

   द० रू० 4/48

शृंगार रस की उत्पत्ति रति रूप स्थायीभाव से होती है। यही कारण है कि रति का सीधा सम्बन्ध शृंगार से होता है। रति का सामान्य अर्थ होता है- अनुरक्ति या प्रीति तथा रमणक्रीड़ा या नरनारी का संभोग।[1] "रति" शब्द की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम आचार्य भरत ने कहा है कि -"रति की उत्पत्ति इष्ट पदार्थ की प्राप्ति से होती है। इसका अभिनय मधुर वाणी एवं आंगिक चेष्टाओं द्वारा होता है।"[2] इसकी और विस्तृत व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि,"रति का मूलाधार प्रमोद या आनन्द है। इसका उद्भव ऋतु, माला, लेप, आभूषण, भोजन, श्रेष्ठभवन तथा अनुकूल भावों के कारण होता है। रति का अभिनय स्मित वदन, मधुर कथन, भ्रूक्षेप तथा कटाक्षादि अनुभावों द्वारा होना चाहिए।"[3]

- -

1. रम्यतेऽनया इति रतिः । रम्+ क्तिन्= रति। ह0 को0 पृ0 558 ।कोश में इसप्रकार की व्याख्या करके इसका अर्थ काम, अनुराग या प्रीति बताया गया है।

2. इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते ।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ।।
ना0 शा0 7/9

3. रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवनानुभवनाप्राति-कूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः।।
- ना0 शा0

रति सम्बन्धी इसी मत को प्रमाणपुष्ट मानते हुए परवर्ती आचार्यों ने भी अपना-अपना मत प्रस्तुत किया है।[1]

श्रृंगार रस के विषय में यह ध्यातव्य है कि परस्पर अनुरक्त नायक एवं नायिका इसके आलम्बन विभाव हैं। जिनका आश्रय लेकर रति आदि आविर्भूत होते हैं, वे नायिकादिरूप "आलम्बन" कहे जाते हैं।[2] जिस पर रस आश्रित होता है उसे आलम्बन कहते हैं तथा जिसमें रस की उत्पत्ति होती है उसे "आश्रय" कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने श्रृंगार रस के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट कर दिया है कि परोढ़ा एवं वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकायें एवं दक्षिण आदि नायक इसके आलम्बन माने जाते हैं।[3] काव्य, गीत, वाद्य, नृत्य, वसन्त आदि ऋतु, माल्य, विलेपन, ताम्बूल, विशिष्ट भवन, वेष, चन्द्रोदय, केलि, पुष्पचयन एवं जलकेलि

1· (1) रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।

सा० द० 3/176

(2) तत्र परस्परास्थाबन्धात्मिका रतिः ।

काव्यानु०

(3) "स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालंबनः प्रेमाख्यचित्तवृत्तिविशेषो रतिस्थायिभावः।"

र० गं०

2· " आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् । सा० द० 3/29

3· " परोढ़ां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।

आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।।"

सा० द० 3/183

आदि श्रृंगार रस के उद्दीपन विभाव हैं। जो रस को उद्दीप्त करते हैं, उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं।आलम्बन की चेष्टाएँ एवं देश-काल आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माने जाते हैं।[1]

आचार्य मम्मट ने श्रृंगार रस के दो भेद किये है-[2]

§1§ सम्भोग श्रृंगार . §2§ विप्रलम्भ श्रृंगार

नाट्यशास्त्र के प्रवर्त आचार्य भरत ने भी श्रृंगार रस के दो भेद स्वीकार किये थे।[3] आचार्य विश्वनाथ भी श्रृंगार रस के दो भेद स्वीकार करते हैं।[4]

सम्भोग श्रृंगार - आचार्य विश्वनाथ के अनुसार," जहाँ परस्पर अनुरक्त,भोग सुख की लालसा वाले दम्पति दर्शन, स्पर्शन, अधरपान एवं चुम्बनादि करते हैं, वह सम्भोग श्रृंगार कहा जाता है।[5]

---

1. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।
आलम्बनस्य चेष्टाया: देशकालादयस्तथा ।।
सा0 द0 3/132

2. "तत्र श्रृंगारस्य द्वौ भेदौ -सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्य: परस्परावलोकना-लिङ्गनाऽधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते।" - का0 प्र0 चतुर्थ उल्लास

3. " तत्र श्रृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव··· तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च ········ एवमेष सर्वभावसंयुक्त: श्रृंगारो भवति।" - नाट्यशास्त्र 6

4. विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मत: ।
सा0 द0 3/186

प्रस्तुत विवेच्य कृति में सम्भोग श्रृंगार का आद्यन्त अनेकशः चित्रण हुआ है। आर्यासप्तशती में संभोग श्रृंगार का अत्यन्त उत्कृष्ट एवं स्वाभाविक चित्रण मिलता है। इस सन्दर्भ में सम्भोग श्रृंगार का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

पतितेंऽशुके स्तनार्पितहस्तां तां निबिडजघनपिहितोरूम् ।

रदपदविकलितफूत्कृतिशतधुतदीपां मनः स्मरति ॥[1]

प्रसंग है मुग्धा नायिका के रतिसदन में पहुँचने का। नायक ने संभोगादि प्रारम्भ करने के उद्देश्य से मुग्धा को पकड़ा, उसने अपने को मुझसे छुड़ाने की चेष्टा में शरीर से वस्त्र गिर जाने पर (भय एवं लज्जावश) उसने (ढकने के लिए) स्तनों पर हाथों को रख लिया, समेट कर जाँघों से जघन प्रदेश को अत्यन्त आच्छादित कर लिया, होठों की विकल (अतएव प्रभावहीन) सैकड़ों फूँक से जो दीप को केवल कम्पित भर कर सकी (बुझा न सकी), ऐसी नायिका को मेरा मन स्मरण करता है।

(यहाँ पर आश्रय है- नायक) आलम्बन विभाव है-नायिका। शून्य रतिसदन एवं वस्त्राभूषणादि उद्दीपन विभाव है। स्तनों पर हाथों को रखना, जाँघों से जघनप्रदेश को अत्यन्त आच्छादित करना तथा होंठो की विकलता आदि अनुभाव है तथा हर्ष, व्रीडा श्रम, उन्माद एवं स्मृति आदि संचारीभाव हैं। रति स्थायीभाव है तथा सम्भोग श्रृंगार रस है।

---

1. आ० स० 368 ।

सम्भोग श्रृंगार के रूप में कहीं नायक नायिका के परस्पर अवलोकन का तो कहीं अधरपान का तो कहीं चुम्बन का तो कहीं आलिङ्गन का और कहीं जघनदर्शन का वर्णन प्राप्त होता है। सम्भोग श्रृंगार के अन्तर्गत नायक एवं नायिका का परस्पर अवलोकन बहुत सुखावह होता है। इस प्रसंग में प्रस्तुत है आर्यासप्तशती की यह आर्या -

अस्याः कररूहखण्डितकाण्डपटप्रकटनिर्गता' दृष्टिः ।
पटविगलितनिष्कलुषा स्वदते पीयूषधारेव ॥[1]

प्रसंग है नायिका द्वारा कनात में नखों से छिद्र करके नायक को देखने का। नायिका की ऐसी दृष्टि को नायक वस्त्र से छनी अतः निर्मल'अमृतधारा के समान मानता है। जो सुख नायिका को नायक के देखने से प्राप्त हो रहा है वही सुख नायक को भी आह्लादित कर रहा है। यही कारण है कि गोवर्धनाचार्य परस्पर प्रेम करने को सफल साधन नायक-नायिका के दृष्टिपात को ही मानते हैं और इसके सामने दूती को नगण्य ठहराते हैं। वे दृष्टिपात को ही प्रथम श्रेणी की दूती के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में एक आर्या द्रष्टव्य है-

" उच्छ्वसितसौभाग्यमदस्फुटयान्धानङ्गभीतयोर्यूनोः ।
अकलितमनसोरेका' दृष्टिर्दूती निसृष्टार्था ॥[2]

- -

1. आ० स० 37

2. आ० स० 128

युवक-युवती के मन में क्या भाव है- इसका उत्तर उन्हें परस्परावलोकन से स्वत: मिल जाता है। सम्भोग श्रृंगार के वर्णन में कवियों को अधरपान बहुत भाता है। नायक-नायिका परस्पर अधरपान करके जिस सुख की अनुभूति करते हैं इसे तो 'सहृदय ही जान पाते हैं। गोवर्धनाचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि प्रिया के बिम्बतुल्य ‌{लाल} अधर का मधुपान करने वाले से तो इन्द्र भी, 'अमृत का तिरस्कार करके' स्पृहा करता है-

" वृतिविवरनिर्गतस्य प्रमदाबिम्बाधरस्य मधु पिबेत ।

अवधीरितपीयूष:' स्पृहयति देवाधिराजोऽपि ।।[1]

यही कारण है कि आचार्य ने अधर को अत्यन्त उत्कृष्ट बताया है तभी तो द्यूत-क्रीडा में पार्वती जी ने अपने अधर को प्रतिपण{दाँव पर} रखा है-

को वेद मूल्यमक्षद्यूते प्रभुणा पणीकृतस्य विधो: ।

प्रतिविजये यत्प्रतिपणमधरं धरनन्दिनी विदधे ।।[2]

प्रसंग है द्यूत-क्रीडा का। शंकर जी ने चन्द्रमा को बहुमूल्य समझकर दाँव पर लगाया। ऐसे चन्द्रमा का मूल्य कौन जानता है ? क्योंकि पार्वती जी ने शिवजी के मुकाबिले में विपरीत पक्ष से {चन्द्रमा से अधिक मूल्यवान्} अपने अधर को ही दाँव पर रखा। इस प्रकार कवि ने अधर की प्रशंसा की है।

- -

1. आ० स० 536

2. आ० स० 183 ।

सम्भोग के समय रति को उत्कृष्ट बनाने का सफल साधन "चुम्बन" को माना जाता है। कामभाव को उद्दीप्त करने में चुम्बन का अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया जाता है। गोवर्धनाचार्य ने काम को उद्दीप्त करने में चुम्बन को सफल अस्त्र माना है। यह ऐसा अस्त्र है जो नायिका के रजोदर्शन में भी नायक को आनन्दित कर देता है। इस प्रसंग में एक आर्या द्रष्टव्य है-

अधर उदस्त: कूजितमामीलितमक्षि लोलितो मौलि: ।
आसादितमिव चुम्बनसुखमस्पर्शेऽपि तस्याभ्याम् ।।[1]

नायक-नायिका के मिलन के समय तथा वियोग होने के समय चुम्बन एवं आलिङ्गन का विधान है, आज भी प्रेम-प्रेमिका ऐसा ही करते हैं। इससे सम्बन्धित एक आर्या प्रस्तुत है-

मयि यास्यति कृत्वावधिदिनसंख्यं चुम्बनं तथाश्लेषम् ।
प्रिययानुशोचिता सा तावत्सुरताक्षमा रजनी ।।[2]

प्रिय विदेश जाने वाला है- यह जानकर प्रिया ने बाहर रहने के दिन के बराबर चुम्बन तथा आलिंगन किया। इस प्रकार चुम्बन एवं आलिंगन से प्रिय के प्रति प्रिया का प्रेमातिशय व्यङ्ग्य है।

---

1. आ० स० 62

2. आ० स० 434

सम्भोग श्रृंगार के रूप में कहीं नायक नायिका के परस्पर अवलोकन का तो कहीं अधरपान का तो कहीं चुम्बन का तो कहीं आलिङ्गन का और कहीं जघनदर्शन का वर्णन प्राप्त होता है। सम्भोग श्रृंगार के अन्तर्गत नायक एवं नायिका का परस्पर अवलोकन बहुत सुखावह होता है। इस प्रसंग में प्रस्तुत है आर्यासप्तशती की यह आर्या -

अस्या: कररूहखण्डितकाण्डपटप्रकटनिर्गता' दृष्टि: ।
पटविगलितनिष्कलुषा स्वदते पीयूषधारेव ।।[1]

प्रसंग है नायिका द्वारा कनात में नखों से छिद्र करके नायक को देखने का। नायिका की ऐसी दृष्टि को नायक वस्त्र से छनी अत: निर्मल'अमृतधारा के समान मानता है। जो सुख नायिका को नायक के देखने से प्राप्त हो रहा है वही सुख नायक को भी आह्लादित कर रहा है। यही कारण है कि गोवर्धनाचार्य परस्पर प्रेम करने का सफल साधन नायक-नायिका के दृष्टिपात को ही मानते हैं और इसके सामने दूती को नगण्य ठहराते हैं। वे दृष्टिपात को ही प्रथम श्रेणी की दूती के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रसंग में एक आर्या द्रष्टव्य है-

" उच्छ्वसितसौभाग्यमदस्फुटयान्धानङ्गभीतयोर्यूनो: ।
अकलितमनसोरेका' दृष्टिर्दूती निसृष्टार्था ।।[2]

- -

1. आ० स० 37

2. आ० स० 128

प्रसंग है नायक द्वारा दिवाल के छिद्र में भुजाडालकर नायिका के स्पर्शसुख की अनुभूति का। दूती ने नायिका से संयोग कराने के लिए दिवाल के छिद्र से नायक की भुजा को प्रविष्ट करा दिया। कुछ समय बाद जब दूती नायक से भुजा को बाहर निकालने को कहा तो नायक स्पर्शसुख को जारी रखने के लिए दूती से बहाना बनाकर कहता है कि दुर्बलता के कारण यह मेरी भुजा दीवाल के छिद्र से बेगपूर्वक अन्दर तो चली गयी, किन्तु प्रिया के स्पर्श से उल्लसित उस छिद्र से निकल नहीं पा रही है। यहाँ पर यह व्यङ्ग्य है कि नायक स्पर्शजन्य आनन्दातिरेक से उल्लसित स्वयं भुजा को नहीं निकालना चाहता। गोवर्धनाचार्य ने सम्भोग श्रृंगार के वर्णन में जघन-दर्शन को बहुत महत्त्व दिया है। ऐसा लगता है जैसे आचार्य को नायिका के जघन-दर्शन से तृप्ति नहीं मिलती । तभी तो जघन-दर्शन का बारंबार वर्णन करते है-

" अम्बरमध्यनिविष्टं तवेदमतिचपलमलघु जघनतटम् ।

चातक इव नवमभ्रं निरीक्षमाणो न तृप्यामि ।।[1]

प्रसंग है नायक द्वारा नायिका के जघन-दर्शन का। यहाँ पर नायक आश्रय है, नायिका आलम्बन है। नायिका का जघनतटादि उद्दीपन विभाव है। अनुभाव है- नायक द्वारा नायिका के जघनतट का दर्शन । मोह, स्मृति, एवं औत्सुक्य सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार रति से पुष्ट

---

1. आ0 स0 64 ।

सम्भोग श्रृंगार है।

जघन-दर्शन से अतृप्त पुनः वर्णन करते हैं-

निर्भरमपि संभुक्तं दृष्ट्या प्रातः पिबन्न तृप्यामि ।

जघनमनंशुकमस्याः कोक इवाशिशिरकरबिम्बम् ॥[1]

नायक-नायिका की सखी से कह रहा है- अत्यन्त संभुक्त भी, वस्त्ररहित इसके जघनप्रदेश को प्रातः, सूर्यबिम्ब को चक्रवाक के समान, सादर अवलोकन करता मैं तृप्त नहीं होता हूँ। यहाँ पर कवि की रति के प्रति उत्कट इच्छा व्यंग्य है। यह प्रसङ्ग नायकारब्ध सम्भोग श्रृंगार का है। काव्यशास्त्रियों ने सम्भोग श्रृंगार के नायिकारब्ध तथा नायकारब्ध दो भेद बताये हैं। नायकारब्ध का उदाहरण तो दे दिया गया, अब नायिकारब्ध सम्भोग श्रृंगार का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" निजकुङ्कुमसूत्रलम्बी विलोचनं तरुण ते क्षणं हरतु ।

अयमुद्गृहीतबडिशः कर्कट इव मर्कटः पुरतः ॥[2]

यहाँ पर नायिका आश्रय है तथा नायक आलम्बन विभाव है। नायिका सुरतकाल में नायक शीघ्र स्खलित न हो जाय इसके लिए उसे मकड़ा देखने को कह रही है। ऐसा करके वह नायक का ध्यान रति से दूर करके रतिसुख को जारी रखना चाहती है। यहाँ पर नायिकारब्ध संभोग श्रृंगार स्पष्ट ही है।

- -

1• आ० स० 319

2• आ० स० 322

काव्यशास्त्रियों ने सम्भोग श्रृंगार को एक ही प्रकार का माना है, क्योंकि संभोग के क्षेत्र में चुम्बन, परिरम्भण आदि अनेक क्रियायें होने के कारण इसकी गणना की ही नहीं जाती है।[1] आचार्य मम्मट की मान्यता को पहले ही बताया जा चुका है, उन्होंने सम्भोग श्रृंगार को एक ही प्रकार का माना है। आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि सम्भोग-श्रृंगार का भेद नहीं स्वीकार किया तथापि उन्होंने इसके चार प्रकार किये हैं- पूर्वराग अनन्तर सम्भोग, मानान्तर सम्भोग, प्रवास अनन्तर सम्भोग तथा करुण अनन्तर सम्भोग।[2]

आर्यासप्तशती में उपर्युक्त चारों भेदों में से मान अनन्तर सम्भोग तथा प्रवास अनन्तर सम्भोग का वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम मान अनन्तर सम्भोग का उदाहरण प्रस्तुत है-

प्रणयचलितोऽपि सकपटकोपकटाक्षैर्मयाहितस्तम्भ: ।
त्रासतरलो गृहीत: सहासरभसं प्रिय: कण्ठे ।।[3]

माननी नायिका ने प्रणयव्यापर से चन्चल भी प्रिय का स्थैर्य मिथ्याकोप कटाक्षों से बनाये रखा। नायक नायिका के इस मिथ्याकोप से काँप उठा तो नायिका भी प्रिय के कण्ठ में लग गयी। यहाँ पर नायक आलम्बन है, नायक का प्रणय-व्यापार से चन्चल रूपादि उद्दीपन है नायिका द्वारा प्रिय के कण्ठ में लग जाना-अनुभाव है तथा आवेग, हर्ष एवं औत्सुक्य सन्चारी भाव हैं।

---

1. संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् ।
अयमेक एव धीरै: कथित: सम्भोगश्रृंगार: ।।" सा0द0 3/21।

2. ' कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादे: ।" सा0 द0 3/213

3. आ0 स0 376

प्रसंग है नायक द्वारा दिवाल के छिद्र में भुजाडालकर नायिका के स्पर्शसुख की अनुभूति का। दूती ने नायिका से संयोग कराने के लिए दिवाल के छिद्र से नायक की भुजा को प्रविष्ट करा दिया। कुछ समय बाद जब दूती नायक से भुजा को बाहर निकालने को कहा तो नायक स्पर्शसुख को जारी रखने के लिए दूती से बहाना बनाकर कहता है कि दुर्बलता के कारण यह मेरी भुजा दीवाल के छिद्र से बेगपूर्वक अन्दर तो चली गयी, किन्तु प्रिया के स्पर्श से उल्लसित उस छिद्र से निकल नहीं पा रही है। यहाँ पर यह व्यङ्ग्य है कि नायक स्पर्शजन्य आनन्दातिरेक से उल्लसित स्वयं भुजा को नहीं निकालना चाहता।गोवर्धनाचार्य ने सम्भोग श्रृंगार के वर्णन में जघन-दर्शन को बहुत महत्त्व दिया है। ऐसा लगता है जैसे आचार्य को नायिका के जघन-दर्शन से तृप्ति नहीं मिलती । तभी तो जघन-दर्शन का बारंबार वर्णन करते हैं-

" अम्बरमध्यनिविष्टं तवेदमतिचपलमलघु जघनतटम् ।
चातक इव नवमभ्रं निरीक्षमाणो न तृप्यामि ।।[1]

प्रसंग है नायक द्वारा नायिका के जघन-दर्शन का। यहाँ पर नायक आश्रय है, नायिका आलम्बन है। नायिका का जघनतटादि उद्दीपन विभाव है। अनुभाव है- नायक द्वारा नायिका के जघनतट का दर्शन । मोह, स्मृति, एवं औत्सुक्य सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार रति से पुष्ट

---

1. आ० स० 64 ।

न आने के कारण को पूँछती एवं प्रश्नों के माध्यम से प्रणयवार्ता को आगे बढ़ाती॥वार्ता-लाप जन्य आनन्द का अनुभव करती ॥ हुई अपनी उत्कण्ठा को सफल बना रही है। प्रवास से वापस लौटे प्रियतम के साथ प्रिया का यही हाव-भाव हुआ करता है। प्रवास अनन्तर सम्भोग का यह बड़ा ही मार्मिक तथा सहृदयहृदय संवेद्य चित्रण है।

आर्यासप्तशती में सम्भोग श्रृंगार के परिप्रेक्ष्य में यह विशेषरूप से ध्यातव्य है कि इसमें विपरीतरति को अधिक महत्त्व दिया गया है। उन्होंने इसे इतना महत्त्व दिया है कि विष्णु एवं लक्ष्मी को स्तुति भी इसी के माध्यम से किया है।[1] विपरीत रत के समय नायिका ने नायक से प्रतिज्ञा की है कि मैं इसमें हारी नहीं मानूँगी। ऐसी विपरीतरतसंलग्ना नायिका से नायक कह रहा है-

वक्ष:प्रणयिनि सान्द्रश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनघर्मे ।
सुतनु ललाटनिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ।।[2]

अपने वक्ष:स्थल के विषय में अनुराग रख रही हो, श्रम-वश तुम्हारी साँस लम्बी चल रही है, केवल वचन से तुम सुभट बन रही हो, पसीने से तर हो रही हो, हे शोभनगात्रि ! तुमने अपने मस्तक का तिलक मेरे मस्तक में लगा दिया है। अब रुक जाओ; तुम ॥इस विपरीत रत में॥ हार चुकी हो।

---

1. प्रतिबिम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्ष: ।
प्रत्याख्यातमत्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ।। आ0 स0 ग्र0 व्र0 12

2. आ0 स0 529

यहाँ पर नायक आलम्बन है तथा नायिका आश्रय है। कम्प एवं स्वेदादि सात्त्विक भाव है। रति स्थायिभाव से पुष्ट सम्भोग श्रृंगार है।

विपरीतरत अत्यन्त हृदयहारी होता है - इस तथ्य को नायक-नायिका से कह रहा है-

विपरीतमपि रतं ते स्रोतो नद्या इवानुकूलमिदम् ।
तटतरुमिव मम हृदयं समूलमपि वेगतो हरति ।।[1]

हे सुन्दरि ! तेरा यह अनुकूल विपरीत रत भी मेरे हृदय को उसीप्रकार आमूल वेगवश हर लेता है जिस प्रकार कूल के साथ {लगा हुआ} नदी का प्रवाह वेगवश तट के वृक्ष को आमूल गिरा देता है।

विपरीत रत के प्रसङ्गों से यह सिद्ध हो जाता है कि यह नायक विषयक नायिकानिष्ठ रति होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विपरीत रत में नायिका का आकर्षण अधिक होता है, क्योंकि जितने विपरीत रत के उदाहरण मिलते हैं उनमें अधिकांश नायिकारब्ध सम्भोग श्रृंगार होते हैं।

नायिका के साथ संयोग के समय नायक को स्वर्गसुख भी दो अंगुल ही दूर दिखाई देता है, अर्थात् नायक-नायिका जब सम्भोग करते हैं तो उन्हें स्वर्ग की आनन्दानुभूति होती है- इस रहस्य को नायक नायिका से कह रहा है-

---

1. आ० स० 549

तव सुतनु सानुमत्या बहुधातुजनितम्बरागाया: ।[1]

गिरिवरभुव इव लाभेनाप्नोमि द्वयंगुलेन दिवम् ।।

अन्त में सम्भोग श्रृंगार के अन्तर्गत कवि नायक-नायिका के अच्छे "सुरत" की प्रशंसा करते हुए कहता है कि निषेधार्थ नायक का हाथ वह पकड़ लेती है, {असह्यत्व प्रकट करने के लिए} जिसमें वह रोने लगती है, {ऐसा करना चाहिए, ऐसा विपरीत क्यों करते हो- इस प्रकार का} आक्षेप जिसमें करती है, {रस -निमग्न होने के कारण} जिसमें नखों को मुट्ठी बाँध कर {अब उसकी आवश्यकता नहीं अत:} नायिका छिपा लेती है {जिससे रस में बाधा न पड़ जाय} और जिसमें वह अपने विजय की इच्छा रखती है- उसका इस प्रकार का सुरत ही सुरत है। इससे भिन्न सुरत केवल प्राजापत्य यज्ञ है { जो केवल पुत्र देता है वह, भी काला- न्तर में, तत्काल नहीं और सुख अर्थ को तो उससे क्ष प्रम आशा ही नहीं करनी चाहिए । कवि के इस प्रसंग को इस आर्या में देखा जा सकता है-

" सकरग्रहं सरुदितं साक्षेपं सनखमुष्टि सजिगीषम् ।

तस्या: सुरतं सुरतं प्राजापत्यक्रतुरतोऽन्य: ।।[2]

---

1. आ0 स0 247

2. आ0 स0 627

न आने के कारण को पूँछती एवं प्रश्नों के माध्यम से प्रणयवार्ता को आगे बढ़ाती (वार्ता-लाप जन्य आनन्द का अनुभव करती) हुई अपनी उत्कण्ठा को सफल बना रही है। प्रवास से वापस लौटे प्रियतम के साथ प्रिया का यही हाव-भाव हुआ करता है। प्रवास अनन्तर सम्भोग का यह बड़ा ही मार्मिक तथा सहृदयहृदय संवेद्य चित्रण है।

आर्यासप्तशती में सम्भोग श्रृंगार के परिप्रेक्ष्य में यह विशेषरूप से ध्यातव्य है कि इसमें विपरीतरति को अधिक महत्त्व दिया गया है। उन्होंने इसे इतना महत्त्व दिया है कि विष्णु एवं लक्ष्मी की स्तुति भी इसी के माध्यम से किया है।[1] विपरीत रत के समय नायिका ने नायक से प्रतिज्ञा की है कि मैं इसमें हारी नहीं मानूँगी। ऐसी विपरीतरतसंलग्ना नायिका से नायक कह रहा है-

> वक्षःप्रणयिनि सान्द्रश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनघर्मे ।
>
> सुतनु ललाटनिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ।।[2]

अपने वक्षःस्थल के विषय में अनुराग रख रही हो, श्रम-वश तुम्हारी साँस लम्बी चल रही है, केवल वचन से तुम सुभट बन रही हो, पसीने से तर हो रही हो, हे शोभनगात्रि ! तुमने अपने मस्तक का तिलक मेरे मस्तक में लगा दिया है। अब रुक जाओ; तुम (इस विपरीत रत में) हार चुकी हो।

---

1. प्रतिबिम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्षः ।
   प्रत्याख्यातमन्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ।। आ० स० ग्र० व्र० 12

2. आ० स० 529

यही वियोग प्रेमी प्रेमिका के प्रेम को परखने की कसौटी का काम करता है। इस वियोग को कसौटी से प्रेम और निखर जाता है। आचार्य गोवर्धन भी परिपक्व प्रेम के लिए वियोग को आवश्यक मानते हैं। इस अवस्था में प्रिया को प्रिय के वस्त्रों से भी भावनात्मक प्रेम हो जाता है। इस प्रसंग की एक आर्या द्रष्टव्य है-

" आदाय धन्मल्पं ददानया सुभग तावकं वास: ।

मुग्धा रजकगृहिण्या कृता दिनै: कतिपयैर्नि:स्वा ।।"[1]

नायिका, धोबिन के घर जाकर उसे पैसे देकर धुलने के लिए आये नायक के वस्त्रों को दर्शन तथा स्पर्श कर नायक के संगम का सा सुख लूटती है। इस प्रकार के सम्बन्ध भावना का वर्णन प्राय: कवि-परम्परा बन गया है , अत: आचार्य गोवर्धन भला क्यो पीछे हटते।

संयोगावस्था के घनीभूत प्रेम की परीक्षा वियोगावस्था में होती है। संयोग के समय प्रेमीयुगल के प्रेम में जितनी तीव्रता होगी, वियोगावस्था में वेदना की अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी। इस परिप्रेक्ष्य में वियोगिनी नायिका का एक प्रसंग द्रष्टव्य है-

अनुरागवर्तिना तव विरहेणोग्रेण सा गृहीतांगी ।

त्रिपुररिपुणेव गौरी वरतनुरर्धावशिष्टेव ।।[2]

---

1. आ0स0 90

2. आ0 स0 23

नायक के विरह में नायिका का शरीर कृश होकर आधा हो गया। यह रहा नायिका का विरहजन्य सन्ताप जिससे वह आधी हो गयी है।

इस उदाहरण में नायिका आलम्बन विभाव है, उद्दीपन विभाव है उत्कट अनुरागादि, वियोगिनी का कृश शरीर होना अनुभाव है तथा चिन्ता एवं विषाद व्यभिचारी भाव हैं। इन सबसे पुष्ट विप्रलम्भ श्रृंगार रस के रूप में आस्वाद्यमान है।

विप्रलम्भ श्रृंगार के भेद को लेकर काव्य विमर्शकों में परस्पर भेद दिखाई देता है। आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेद किये हैं। ये भेद हैं- पूर्वरागमान,प्रवास तथा करूण।[1] आचार्य मम्मट ने इसके पाँच भेद किये हैं- अभिलाष, विरह, इर्ष्या, प्रवास एवं शाप।[2] आचार्य धनंजय तो इसके दो ही भेद मानते हैं- मान तथा प्रवास। मान भी दो तरह का है- प्रणय मान तथा ईर्ष्यामान।[3]

- -

1. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ।

   - सा० द० 3/ 187

2. अपरस्तु अभिलाष- विरहेर्ष्या - प्रवास - शापहेतुक इति पंचविध: ।

   - का० प्र० चतुर्थ उल्लास

3. विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ।

   मानप्रवासभेदेन , मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययो: ।।

   - दशरूपकम् चतुर्थ प्रकाश: 57

प्रस्तुत विवेच्य कृति में काव्य-विमर्शकों द्वारा बताये गये भेदों में से केवल पूर्वराग, मान एवं प्रवास का वर्णन उपलब्ध होता है। इस कृति में करुण विप्रलम्भ एवं शापहेतुक विप्रलम्भ का कोई प्रसंग नहीं प्राप्त होता है। मूलत: आचार्य गोवर्धन का मन "पूर्वराग" एवं "मान" में अधिक रमा है। वैसे भी इन्होंने विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन अत्यन्त संयमित रूप में किया है, अन्य कवियों की तरह कल्पनाओं तथा अतिशयोक्ति का सहारा लेना सर्वथा अनुचित समझा है। यहाँ सर्वप्रथम "पूर्वराग" की विवेचना करते हैं।

"पूर्वराग" विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ नायक एवं नायिका एक दूसरे के प्रति श्रवण या दर्शन से ही प्रेम करते हुए भी समागम का सुख नहीं प्राप्त कर पाते।[1] आर्यासप्तशती में "पूर्वराग" विप्रलम्भ के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत है एक उदाहरण-

सौधगवाक्षगतापि हि दृष्टिस्त्वं स्थितिकृतप्रयत्नमपि ।
हिमगिरिशिखरस्खलिता गंगैवैरावतं हरति ।।[2]

यहाँ पर नायक की दूती नायिका से नायक की आसक्ति का वर्णन कर रही है। नायिका का प्रासाद के झरोखों से नायक पर दृष्टिपात करना "पूर्वराग" विप्रलम्भ श्रृंगार है।

---

1. श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथ: संरूढरागयो: ।
दशाविशेषो यो प्राप्तो पूर्वराग: स उच्यते ।।
- सा० द० 3/188

2. आ० स० 672

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

यस्यां दिशि यस्य तरोर्यामित्य शिखां यथोन्नतग्रीवम् ।

दृष्टा सुधांशुलेखा निशां चकोरस्तथा नयति ।।[1]

यहाँ पर कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से "दर्शनजन्य पूर्वराग" का वर्णन किया है। यहाँ पर नायिका आलम्बन है, ग्रीवा ऊपर उठाकर देखना, तथा सारी रात एक ही मुद्रा में स्थित रहना अनुभाव है।

" गुणश्रवणजन्य पूर्वराग" का उदाहरण इस प्रकार है-

अगणितगुणेन सुन्दर कृत्या पारित्रमप्युदसीनम् ।

भवतानन्यगति: सा विहितावर्तेन तरणिरिव ।।[2]

यहाँ नायकविषयक नायिका की आसक्ति का वर्णन सखी नायक से कर रही है कि हे सुन्दर ! असंख्य चातुर्यादिगुणवाले आपने उसका पातिव्रतधर्म भी छुड़ाकर अब तो उसे अनन्य गति बना दिया - आप के अलावा और कोई उसका शरण नहीं है। चूँकि यहाँ पर नायिका के गुणों को सखी द्वारा नायक सुन रहा है अत: यहाँ "गुणश्रवणजन्य पूर्वराग " है।

- - - - - - - - - - - - - - -

1. आ० स० 485

2. आ० स० 47

अब प्रस्तुत है "मान" विप्रलम्भ की विवेचना। "मान विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ नायिका मान के कारण नायक वियोग से पीड़ित होता है।[1] यह "मान" विप्रलम्भ दो तरह का होता है- प्रणयमान तथा अ ईर्ष्यामान। इसीलिए मानपरक वियोग या तो प्रेम केे कारण होता है या ईर्ष्या के कारण। प्रणयमान वहाँ होता है जहाँ दोनों में से किसी एक के प्रणय के आधार पर मान की उत्पत्ति होती है।[2] इसी तरह ईर्ष्यामान वहाँ होता है जहाँ नायिका पति को अन्य नायिका को सम्बन्ध जान लेने के कारण ईर्ष्या-दग्ध हो मान करती है।[3] ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही होता है।

आर्यासप्तशती में प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान दोनों का सम्यक् चित्रण हुआ है। यहाँ सर्वप्रथम प्रणयमान का उदाहरण प्रस्तुत है-

निशि विषमकुसुमविशिखप्रेरितयोर्मौनलब्धरतिरसयो: ।
मानस्तथैव विलसति दंपत्योरशिथिलग्रन्थि: ॥[4]

---

1. मान: कोप: स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव: । सा० द० 3/197
2. " द्वयो: प्रणयमान: स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ।
   प्रेम्ण: कुटिलगामित्वात् कोपो य: कारणं विना।।" सा० द० 3/198
3. पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते
   ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
   उत्स्वप्नायितभोगाङ्गोत्रस्खलसंभवा ।। सा० द० 3/199-200
4. आ० स० 327

रात में कामदेव के असह्य कुसुमभार से प्रेरित नायक-नायिका ने मौन रति का आनन्द लूटा और उनका मान पूर्ववत् ज्यों का त्यों बना रहा, उसकी गाँठ तक ढीली नहीं हुई। यह प्रणयमान का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है।

इसीप्रकार"प्रणयमान" विप्रलम्भ का एक दूसरा उदाहरण-

" अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ।

इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ।।[1]

यहाँ प्रिय के परिहास को नायिका दुर्वचन मानकर रूठ गयी है। सखी अपनी वाक्चातुरी से उसका समाधान करते हुए कह रही है कि दूसरे के मुख से {दुष्टतापूर्वक} निकला वचन जो दुर्वाद समझा जाता है वही प्रिय के मुख से {कौतुकवश} निकलने पर परिहास {रन्जकवचन} बन जाता है। अन्य इन्धन से उत्पन्न होने के कारण जो धुआँ समझा जाता है वही अगरू से उत्पन्न होन पर धूप कहलाता है। अब आर्यासप्तशती से "ईर्ष्यामान विप्रलम्भ" का उदाहरण प्रस्तुत है-

गेहिन्या चिकुरग्रहसमयसीत्कारमीलितदृशापि ।

बालाकपोलपुलकं विलोक्य निहतोऽस्मि शिरसि पदा।।[2]

---

1. आ० स० 472

2. आ० स० 216

यहाँ पर नायक अपनी गृहिणी की ईर्ष्याजन्य चेष्टा का वर्णन करते हुए कह रहा है कि मैंने चुम्बन के लिए उसके केशों को पकड़ना आरम्भ किया, उस समय सी-सी करती अपनी आँखें मूँद ली तथापि सपत्नी बाला के पुलकित कपोल को देखकर [ईर्ष्यावश] उसने मेरे सिर पर चरणों से प्रहार किया । यहाँ पर प्रारम्भ में तो सम्भोग श्रृंगार का वर्णन है तथा बाद में "ईर्ष्यामान विप्रलम्भ" का वर्णन हुआ है, क्योंकि जब नायिका नायक के अन्याङ्गनासंभोग को जान जाती है तो वह नायक पर कोप करके चरण प्रहार करती है। अतः यहाँ पर अन्ततः ईर्ष्यामान विप्रलम्भ ही प्रमुख है।"ईर्ष्यामान" विप्रलम्भ श्रृंगार का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत है-

वैमुख्येऽपि विमुक्ताः शरा इवान्याययोधिनो वितनोः ।
भिन्दन्ति पृष्ठपतिताः हृदयं मम तव श्वासः ।।[1]

यहाँ पर "ईर्ष्यामान प्रणय" का चित्रण हुआ है। नायिका नायक के अपराध को जान चुकी है, अतएव वह ईर्ष्या के कारण कुपित है। अतः यहाँ पर ईर्ष्यामान विप्रलम्भ श्रृंगार है।

सम्पूर्ण आर्यासप्तशती ईर्ष्यामान विप्रलम्भ से भरी पड़ी है।[2] ईर्ष्यामान विप्रलम्भ का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण द्रष्टव्य है -

---

1. आ० स० 519

2. आ० स० 28, 184, 185, 188, 357 आदि आर्याएँ ।

अब प्रस्तुत है "मान" विप्रलम्भ की विवेचना। "मान विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ नायिका मान के कारण नायक वियोग से पीड़ित होता है।[1] यह "मान" विप्रलम्भ दो तरह का होता है- प्रणयमान तथा अ ईर्ष्यामान। इसीलिए मानपरक वियोग या तो प्रेम के कारण होता है या ईर्ष्या के कारण। प्रणयमान वहाँ होता है जहाँ दोनों में से किसी एक के प्रणय के आधार पर मान की उत्पत्ति होती है।[2] इसी तरह ईर्ष्यामान वहाँ होता है जहाँ नायिका पति को अन्य नायिका की सम्बन्ध जान लेने के कारण ईर्ष्या-दग्ध हो मान करती है।[3] ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही होता है।

आर्यासप्तशती में प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान दोनों का सम्यक् चित्रण हुआ है। यहाँ सर्वप्रथम प्रणयमान का उदाहरण प्रस्तुत है-

निशि विषमकुसुमविशिखप्रेरितयोर्मौनलब्धरतिरसयोः ।
मानस्तथैव विलसति दंपत्योरशिथिलग्रन्थिः ।।[4]

---

1. मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः । सा० द० 3/197
2. " द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ।
   प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना।।" सा० द० 3/198
3. पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते
   ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
   उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा ।। सा० द० 3/199-200
4. आ० स० 327

प्रवास हेतुक विप्रलम्भ-

वैसे प्रवास- विप्रलम्भ श्रृंगार महाकवियों को सर्वाधिक प्रिय लगता है। यही कारण है कि काव्य में प्रवास-विप्रलम्भ का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसमें कवि को विरह की मनोदशा, दैहिक अवस्था आदि का चित्रण करने का विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। प्रेमियों को पहले संयोग का सुखद सुख अनुभव हुआ रहता है और वियोग की अवधि लम्बी होने के कारण चिरकाल तक मिलने की आशा एवं विश्वास भी नहीं रहता है, अतएव विरह वेदना की अनुभूति तीव्र होती है। और यही कारण है कि श्रृंगारी कवियों ने विप्रलम्भ का व्यापक रूप से चित्रण किया है। प्रस्तुत विवेच्यकृति भी यद्यपि श्रृंगारी रचना है, तथापि इसमें प्रवास विप्रलम्भ का वह हृदय द्रावक चित्र-दर्शन नहीं होता जो कालिदासादि महाकवियों की कृतियों में हुआ करता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आचार्य गोवर्धन केवल प्रेमी-प्रेमिका के सुखद पक्ष के पक्षपाती होने के कारण दुःखद पक्ष की उपेक्षा करते हैं। इन सबके होते हुए भी आर्या-सप्तशती में प्रवास-विप्रलम्भ के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इन उदाहरणों की संख्या सर्वथा कम ही है।

जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने प्रवास विप्रलम्भ की यों परिभाषा दी है," किसी कार्य से, शाप से या उपद्रव आदि के भय से, नायक और नायिका का भिन्न देश में रहना ही प्रवास विप्रलम्भ है। प्रवास के अनुभाव हैं शरीर और वस्त्रों की मलिनता, सिर

पर एक वेणी को धारण करना[1], दीर्घनि:श्वास, उच्छ्वास, रुदन् और भूमि पर गिरना।"[2] दशरूपक में यह प्रवास विप्रलम्भ तीन प्रकार का बताया गया है- भावी प्रवास, भवत्प्रवास तथा भूतप्रवास।[3]

आचार्य गोवर्धन ने आर्यासप्तशती में प्रवास के तीनों भेदों को दर्शाया है यद्यपि इसमें वह कुशलता नहीं दिखाई है जो पूर्वराग एवं मान विप्रलम्भ में, किन्तु तो भी जो उदाहरण हैं उन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम भावी अर्थात् जब प्रवास होने वाला हो, को लेते हैं। जब नायक नायिका को छोड़कर विदेश जाने वाला हो, और नायिका पहले से ही उस प्रवास की आशंका से व्याकुल हो रही हो, तब भावी प्रवास होता है। यहाँ

---

1. विरहिणीशकुन्तला का रूपवर्णन करते हुए महाकवि कालिदास कहते हैं-

   वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि: ।
   अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।।

   शाकु0 7/21

2. प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
   तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिर: ।
   नि:श्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।।

   सा0 द0 3/204-205

3. स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वक: ।

   दशरूपक 4/65

भावी प्रवास का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" गत्वा जीवितसंशयमभ्यस्त: सोढुमतिचिराद्विरह: ।

अकरुण ! पुनरपि दित्ससि सुखदुरभ्यासमस्माकम्।।[1]

बहुत दिनों के बाद विदेश से वापस लौटे नायक से पुन: न जाने की इच्छा व्यक्त करती नायिका अपने पूर्व के प्रवासकालीन दु:ख को बता रही है- तुम्हारे विदेश जाने पर तुम्हारे साथ का सुख अभ्यास इतना दु:खदायी हुआ था कि जीवन भी संदिग्ध हो गया था, बड़ी कठिनाई से विरह सहने का अभ्यास पड़ सका। हे अकरुण ! अब पुन: उसी सुरत का अभ्यास मुझे कराना चाहते हो, अर्थात् यदि इस बार अ जाओगे तो तुम्हारे साथ मेरे प्राण भी चले जायेंगे। इसी प्रकार से भावी प्रवास का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

' हृदयं मम कि प्रतिक्षणविहितावृत्ति: सखे प्रियाशोक: ।

प्रबलो विदारयिष्यति जलकलशं नीरलेखेव ।।[2]

नायक सखा से कह रहा है - हे सखे ! जैसे तरङ्गपंक्ति प्रतिक्षण दूर हट-हट कर पुन: लौट लौट कर प्रबल हो, जल के लिए डाले गये कलश को फोड़ डालती है उसी प्रकार प्रबल एवं बार- बार जायमान, प्रिया का दु:ख मेरे हृदय को विदीर्ण कर देगा।(इसी कारण मैं विदेश जाने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ।) यहाँ पर नायक को भावी प्रवास का दु:ख पहले से ही जाने को रोक रहा है। अत: इस उदाहरण में भावी प्रवास की सूचना मिलती है।

---

1. आ० स० 205

2. आ० स० 690

अब "आर्यासप्तशती" से "भवत्प्रवास" या वर्तमान प्रवास का उदाहरण प्रस्तुत है -

बाष्पाकुलं प्रलपतोर्गृहिणि निवर्तस्व कान्त गच्छेति ।

यातं दंपत्योर्दिनमनुगमनावधि सरस्तीरे ।।[1]

विदेश को प्रस्थित नायक को, नायिका सरोवर तक विदा करने आयी है। दोनों को पूरा दिन जाओ और लौट जाओ। कहने में बीत गया। प्रिय गृहिणी से कहता है कि लौट जाओ, किन्तु वह लौटती नहीं और वह कहती है-कान्त! जाओ, परन्तु प्रिय जाता नहीं। इसप्रकार बार-बार अश्रु-पूर्ण एक दूसरे से तथा ही कहते-कहते उन दोनों का सारा दिन अनुगमन की सीमा सरोवर के किनारे ही बीत गया। प्राय: प्रवासकालीन वियोग के समय प्रेमी-प्रेमिका की यही दशा होती है। गोवर्धनाचार्य का यह चित्र बड़ा ही मार्मिक तथा लोकसंवेद्य है। आज भी प्रवासी पति को किसी जलाशय या नदी तक पहुँचाने का विधान है। चाहे स्त्री की विदाई हो या पुरुष को; सरोवर तक पहुँचाने का प्राचीन विधान है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी जब शकुन्तला की विदाई होने लगती है तो काश्यप ऋषि प्रियंवदा एवं अनुसूया आदि के साथ सरोवर तक पहुँचाने जाते हैं।[2] विदाई की यह वेला बहुत दु:खदायी हुआ करती है। अत: वर्तमान प्रवास विप्रलम्भ का यह उदाहरण पूर्ण चित्र उपस्थित कर देता है।

---

1. आ० स० 409

2. ओदकान्तं स्निग्धजनोऽनुगन्तव्य: ।

– अभिज्ञानशाकुन्तलम् चतुर्थ अंक

"भवत् प्रवास" का ही एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

" जलबिन्दव: कतिपये नयनाद् गमनोद्यमे तव स्खलिता: ।

कान्ते मम गन्तव्या भूरेतैरेव पिच्छिलिता ।।[1]

विदेशगमन के समय नायक नायिका से कह रहा है -मेरे प्रस्थान के समय तेरे नेत्र से कतिपय जल की बूँदे जो टपक पड़ी उन्हीं आँसू की बूँदों से मेरा मार्ग पिच्छिल हो गया अर्थात् उस पर मुझसे चरण रखते नहीं बनता। प्राय: विदाई के समय आँसू टपक ही पड़ते हैं ।ऽ प्रिया का हृदय इतना कोमल होता है कि वह वियोग देखना ही नहीं चाहता। इसी भाव-भूमि पर कवि ने यह प्रसंग प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कृति में भवत् प्रवास विप्रलम्भ के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2]

भावी एवं वर्तमान प्रवास के समान "आर्यासप्तशती" में "भूत प्रवास विप्रलम्भ" का भी उदाहरण प्राप्त होता है। भूत प्रवास के प्रसंग भावी एवं भवत् प्रवास से अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। वैसे भी विरही नायक-नायिका के हृदय की छटपटाहट तो बीते हुए प्रवास में ही देखने को मिलता है। यदि ठीक-ठीक विचार किया जाय तो प्रवास में केवल भूत प्रवास ही होना चाहिए । प्रवास की सार्थकता तो इसी से होती है। अत: आचार्य

1• आ0 स0 235 ।

2• आ0 स0 434, 576 आदि आर्या ।

भावी प्रवास का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" गत्वा जीवितसंशयमभ्यस्त: सोढुमतिचिराद्विरह: ।

अकरुण ! पुनरपि दित्ससि सुखदुरभ्यासमस्माकम्।।[1]

बहुत दिनों के बाद विदेश से वापस लौटे नायक से पुन: न जाने की इच्छा व्यक्त करती नायिका अपने पूर्व के प्रवासकालीन दु:ख को बता रही है- तुम्हारे विदेश जाने पर तुम्हारे साथ का सुख अभ्यास इतना दु:खदायी हुआ था कि जीवन भी संदिग्ध हो गया था, बड़ी कठिनाई से विरह सहने का अभ्यास पड़ सका। हे अकरुण ! अब पुन: उसी सुरत का अभ्यास मुझे कराना चाहते हो, अर्थात् यदि इस बार भ जाओगे तो तुम्हारे साथ मेरे प्राण भी चले जायेंगे। इसी प्रकार से भावी प्रवास का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है-

' हृदयं मम कि प्रतिक्षणविहितावृत्ति: सखे प्रियाशोक: ।

प्रबलो विदारयिष्यति जलकलशं नीरलेखेव ।।[2]

नायक सखा से कह रहा है - हे सखे ! जैसे तरङ्गपंक्ति प्रतिक्षण दूर हट-हट कर पुन: लौट लौट कर प्रबल हो, जल के लिए डाले गये कलश को फोड़ डालती है उसी प्रकार प्रबल एवं बार-बार जायमान, प्रिया का दु:ख मेरे हृदय को विदीर्ण कर देगा।ॅइसी कारण मैं विदेश जाने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ।ॅ यहाँ पर नायक को भावी प्रवास का दु:ख पहले से ही जाने को रोक रहा है। अत: इस उदाहरण में भावी प्रवास की सूचना मिलती है।

- -

1. आ० स० 205

2. आ० स० 690

नायिका मनोरथ करते हुए कहती है कि हे रजनी ! तू ऐसी कब होगी, जिसमें वह प्रिय (घर आकर) मार्ग की थकावट दूर करने के लिए, मेरे पैर धरते ही बलपूर्वक एक जाँघ को दूसरी पररखकर अपनी जाँघों से मुझे बाँधकर अपने वक्ष:स्थल पर कब गिरायेगा । यहाँ पर नायिका में चिन्ता एवं औत्सुक्य संचारी भाव की पुष्टि हो रही है। प्राय: विरहावस्था में विरहिणी नायिका के ऐसे ही मनोरथ हुआ करते हैं। लोक में भी विरहिणी के यही मनोरथ होते हैं।

ऐसा नहीं है कि केवल विरहावस्था में नायिका ही अपने मन में मनोरथ-व्यक्त करती अपितु विरही नायक के भी कुछ ऐसे ही मनोरथ हुआकरते हैं। यहाँ इस सन्दर्भ में एक उदाहरण प्रस्तुत है-

" धवलनखलक्ष्म दुर्बलमकलितनेपथ्यमलकपिहिताक्ष्या: ।

द्रक्ष्यामि मदवलोकद्विगुणाश्रु वपु: पुरद्वारि ।।"[1]

प्रवासी नायक नायिका का चिन्तन करता हुआ स्वगत कह रहा है- जिसमें नख-चिह्न श्वेत पड़ गये हैं, विरह से क्षीण, जिसमें भूषण नहीं धारण किये गये हैं, अलकों से ढके नेत्रों वाली प्रियतमा का वह शरीर, मुझे देखकर जिसमें दूने आँसू हैं, नगर के फाटक पर

1• आ० स० 306

"भवत् प्रवास" का ही एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

" जलबिन्दवः कतिपये नयनाद् गमनोद्यमे तव स्खलिताः ।

कान्ते मम गन्तव्या भूरेतैरेव पिच्छिलिता ।।[1]

विदेशगमन के समय नायक नायिका से कह रहा है -मेरे प्रस्थान के समय तेरे नेत्र से कतिपय जल की बूँदे जो टपक पड़ी उन्हीं आँसू की बूँदों से मेरा मार्ग पिच्छिल हो गया अर्थात् उस पर मुझसे चरण रखते नहीं बनता। प्राय: विदाई के समय आँसू टपक ही पड़ते हैं ।प्रिया का हृदय इतना कोमल होता है कि वह वियोग देखना ही नहीं चाहता। इसी भाव-भूमि पर कवि ने यह प्रसंग प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कृति में भवत् प्रवास विप्रलम्भ के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2]

भावी एवं वर्तमान प्रवास के समान "आर्यासप्तशती" में "भूत प्रवास विप्रलम्भ" का भी उदाहरण प्राप्त होता है। भूत प्रवास के प्रसंग भावी एवं भवत् प्रवास से अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। वैसे भी विरही नायक-नायिका के हृदय की छटपटाहट तो बीते हुए प्रवास में ही देखने को मिलता है। यदि ठीक-ठीक विचार किया जाय तो प्रवास में केवल भूत प्रवास ही होना चाहिए । प्रवास की सार्थकता तो इसी से होती है। अतः आचार्य

---

1. आ० स० 235 ।
2. आ० स० 434, 576 आदि आर्या ।

प्रवास से वापस लौटे प्रियतम पर प्रिया अपनी सखियों से गर्व व्यक्त करती है। वह सखियों से कहती है - हे सखि ! सुन । यह मेरा प्रिय परदेश से जिस मार्ग द्वारा घर को वापस आया, उसी मार्ग में पड़े नगरों, गावों और नदियों को (मेरे ही ध्यान में मग्न होने से न जान सकने के कारण) अपने साथ आये अन्य साथियों से पूँछता है। यह लोकसिद्ध तथ्य है कि जिसका जो लक्ष्य होता है उसे उसके अलावा कुछ नहीं सूझता। इस उदाहरण में गोवर्धनाचार्य ने इसी लोकसंवेद्य तथ्य को उद्घाटित किया है।

अन्त में परदेश से वापस लौटे नायक को नायिका किसप्रकार सम्मानित कर रही है- यह सर्वथा स्तुत्य है। इस प्रसंग में एक आर्या द्रष्टव्य है-

" व्यालम्बमानवेणीधुतधूलि प्रथममश्रुभिर्धौतम् ।
आयातस्य पदं मम गेहिन्या तदनु सलिलेन ।।[1]

नायिका ने घर आये नायक (पति) को शिरसा प्रणाम किया जिससे उसके लटकते हुए बाल (बेणी) ने चरणों की धूल पोंछकर, सर्वप्रथम उसके चरणों को आँसू से धोया तत् पश्चात् जल से। गोवर्धनाचार्य ने इस पद्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता को बताने का सफल प्रयास किया है। आज भी भारतीय संस्कृति में स्त्रियाँ अपने पतियों का चरण-स्पर्श करती हैं तथा पाद प्रक्षालन करती हैं। यहाँ पर कवि ने इन सारे तथ्यों को विरहिणी नायिका के माध्यम से व्यक्त किया है।

इस प्रकार प्रवास हेतुक विप्रलम्भ श्रृंगार के समस्त पहलुओं को सम्यक् रूप से स्पष्ट कर दिया गया है।

---

1. आ० स० 560

रसाभास

रसाभास की स्थिति वहाँ आती है जहाँ रत्यादि की अभिव्यक्ति हुई हो। काव्य-विमर्शकों ने औचित्य रूप से प्रवृत्त स्थायी भाव को आस्वाद्य रस बताया है तथा व्यभिचारी भाव के आस्वाद्य को भाव कहा है। इसके विपरीत अनौचित्य रूप से प्रवृत्त होने पर स्थायिभाव "रसाभास" तथा व्यभिचारी का अनौचित्य रूप "भावाभास" कहा जाता है। स्पष्ट है कि अनुचित रूप से प्रवृत्त स्थायीभाव का आस्वादही "रसाभास" कहा जाता है।[1]

सम्पूर्ण "आर्यासप्तशती" में श्रृंगाराभास स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। यहाँ उदाहरण देने से पूर्व श्रृंगाराभास को स्पष्ट कर देना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार "श्रृंगाराभास वहाँ होता है जहाँ, उपनायक या मुनि, गुरु आदि के प्रति नायिका का अनुराग हो, पशु- पक्षियों के प्रेम का वर्णन किया गया हो, नायक या नायिका का एकांगी प्रेम चित्रित किया गया हो, अथवा व्यक्ति के प्रेम का वर्णन किया गया हो।[2]

- -

1. (1) अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ।

- सा० द० 3/262

(2) तदाभास अनौचित्यप्रवर्तिता: ।

- का० प्र० 4/49

2. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।
श्रृंगारे नौचित्यम्........................।।

- सा० द० 3/263,

चूँकि "आर्यासप्तशती" में प्रणय को उन्मुक्त चित्रण हुआ है तथा उन्मुक्त प्रणय के अन्तर्गत परोढ़ा नायिकाओं तथा उपपतियों का वर्णन हुआ है अतः इस विवेच्य कृति में "रसाभास" के अनेक उदाहरणं प्राप्त होते हैं। यथा-

" अन्यास्वपि गृहिणीति ध्यायन्नभिलषितमाप्नोति ।

पश्यन्पाषाणमयीः प्रतिमा इव देवतात्वेन ।।[1]

यहाँ पर "श्रृंगाराभास" स्पष्ट है, क्योंकि यहाँ पर रति की अनौचित्य अभिव्यक्ति हो रही है। नायक अन्य अङ्गनाओं में भी अपनी नायिका को भावना से आनन्द प्राप्त करता है जैसे पत्थर की मूर्ति को देवभाव से देखनेवाला व्यक्ति वान्छित फल को पाता है। अतः यहाँ पर श्रृंगाराभास है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण-

एष्यति मा पुनरयमिति गमने यदमङ्गलं मयाकारि ।

अधुना तदेव कारणमवस्थितौ दग्धगेहपतेः ।।[2]

यहाँ पर नायक का नायिका के प्रति एकाङ्गी प्रेम चित्रित हुआ है, अतः यहाँ पर "श्रृङ्गाराभास" है। नायिका उपपतियों के साथ स्वच्छन्द विहार करने की नियत से विदेश जाने को प्रस्थित नायक का अमङ्गल करती है, किन्तु वह नायक (जो नायिका का

- -

1. आ० स० 43

2. आ० स० 143

सच्चा प्रेमी नहीं है। इसी के कारण अपना गमन स्थगित कर देता है। यहाँ पर नायक तो नायिका को चाहता है, किन्तु नायिका नायक को नहीं चाहती है, अतः "श्रृंगाराभास" स्पष्ट रूप से झलक रहा है।

"श्रृंगाराभास" का ही एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

"अगणितमहिमा लङ्घितगुरुरथनेहः स्तनंधयविरोधी ।

इष्टाकीर्तिस्तस्यास्त्वयि रागः प्राणनिरपेक्षः ।।"[1]

यहाँ पर दूती नायक से नायिका के तद्विषयक प्रेमातिशय को वर्णन कर रही है। यहाँ नायक के प्रति नायिका का प्रेम एकाङ्गी प्रतीतहोने से "श्रृंगाराभास" है।

तुल्यानुरागयुक्त श्रृंगार में यदि नीच व्यक्ति के अनुराग का वर्णन किया जाय तो वहाँ भी "श्रृंगाराभास" ही होता है। यथा-

उल्लसितभ्रु: किमतिक्रान्तं चिन्तयसि निस्तरंगाक्षि ।

क्षुद्रापचारविरसः पाकः प्रेम्णो गुडस्येव ।।[2]

यहाँ पर क्षुद्र व्यक्ति के प्रेम के कारण नायिका चिन्ता में निमग्न है। ऐसी चिन्तित नायिका को सखी समझा रही है कि हे निश्चलनयनों वाली ! भौंहों को ऊपर को ओर तरेरे हुए, गत बात का चिन्तन क्यों करती हो} अब जो होना था वह हो गया} प्रेम-परिपाक नीच {प्रिय} के अपराध से विरस हो जाता है, जैसे गुड का परिपाक मक्खी के

- -

1· आ० स० 10

2· आ० स० 124

मरने से घृणित हो जाता है। यहाँ पर नायिका में "चिन्ता" व्यभिचारी भाव व्यक्त हो रहा है। चूँकि नायिका का प्रेम नीच व्यक्ति से हुआ है अतः यहाँ "श्रृंगाराभास" होगा।

अन्त में पशु-पक्षियों का प्रेम-वर्णन भी श्रृंगाराभास की कोटि में ही माना जाता है। "आर्यासप्तशती" में इसके भी उदाहरण हैं। यथा-

" सौभाग्यगर्वमेका करोतु यूथस्य भूषणं करिणी ।
अत्यायामवतोर्या मदान्धयोर्मध्यमधिवसति ।।"[1]

चूँकि यहाँ पर हाथी और हथिनी के प्रेम का वर्णन हुआ है अतःयहाँ भी "श्रृंगाराभास" है।

अन्त में "श्रृंगाराभास" के अन्तर्गत पक्षी के प्रेम-वर्णन का उदाहरण द्रष्टव्य है-

" अङ्गेषु जीर्यति परं खञ्जनयूनोर्मनोभवप्रसर: ।
न पुनरनन्तर्गर्भितनिधिनि धरामण्डले केलि: ।।"[2]

यहाँ पर चूँकि खंजन-दम्पती के प्रेम का वर्णन हुआ है अत: यहाँ पर "श्रृंगाराभास" स्पष्ट हो रहा है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि "आर्यासप्तशती" में श्रृंगाराभास के समस्त रूपों का चित्रण हुआ है।

---

1. आ० स० 590
2. आ० स० 07 ।

0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0
0

षष्ठ - अध्याय

"आर्यासप्तशती" की "गाहासत्तसई" एवं "वज्जालग्गं" से तुलना

"आर्यासप्तशती की गाथासप्तशती एवं वज्जालग्गं से तुलना"

हालकृत गाहासत्तसई, जिसे संस्कृत में गाथासप्तशती कहा जाता है, महाराष्ट्री प्राकृत का एक उत्कृष्ट मुक्तक काव्य है। गाहासत्तसई ही प्रथम मुक्तक कोष है जिसमें सात सौ गाथाओं का संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ में अनेक कवियों के मुक्तक संकलित किये गये हैं, जो संभवतः समसामयिक नहीं थे। इसमें सात सौ गाथाओं को सात शतकों में विभक्त किया गया है। इसमें आद्यन्त एक ही छन्द "गाहा" प्रयुक्त हुआ है। यह "गाहा" शब्द संस्कृत के "गाथा" का पर्यायवाची है। गाहासत्तसई का अर्थ होता है -"गाहानां सत्तसई"।अर्थात् गाहा छन्दों की सत्तसई। स्पष्ट है कि गाहा या गाथा छन्द में सात सौ पद्यों का निर्माण होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम "गाथासप्तशती" पड़ा है। गेय होने के कारण "गाहा" छन्द श्रृंगार रस के लिए बड़ा अनुकूल होता है। इस ग्रन्थ में श्रृंगार -रस का प्राधान्य है । श्रृंगारिक विषयों की बहुलता होने पर भी नीति, खलनिन्दा, सज्जनप्रशंसा, राजप्रशस्ति देवनमस्कृति, प्रकृति-चित्रण आदि विषयों से सम्बद्ध रचनाएँ भी संगृहीत हैं।

इसी प्रकार गोवर्धनाचार्य की "आर्यासप्तशती" गाथासप्तशती के अनुकरण पर संस्कृत में लिखा हुआ मुक्तक कोश है। चूँकि गाथासप्तशती आर्यासप्तशती की पूर्ववर्ती रचना है, अतएव आर्यासप्तशती पूर्णतया गाथासप्तशती पर आधारित है। यही कारण है कि नामकरण

आकार-प्रकार, वर्ण्य-विषय आदि की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त साम्य है। गोवर्धनाचार्य ने भी आर्या छन्द को ही अपनी कविता का माध्यम चुना है। प्राकृत के गाहा[गाथा] छन्द में तथा संस्कृत के आर्या छन्द में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। गाथाछन्द तथा आर्या छन्द में एक ही लक्षण है। दोनों छन्दों के प्रथम तथा तृतीय पाद में बारह, द्वितीय में अठारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं।[1] अतः निश्चित ही आर्या छन्द संस्कृत में प्राकृत से आया है। चूँकि दोनों ग्रन्थों का छन्द एवं शीर्षक समान है, अतएव गाहासत्तसई शब्द का ही संस्कृत-अनुवाद आर्यासप्तशती भी किया जा सकता है। आर्यासप्तशती का वर्ण्य विषय वही है जो गाहासत्तसई का है। श्रृंगार का प्राधान्य आर्यासप्तशती में भी वैसा ही है जैसा गाथासप्तशती में है। आचार्य गोवर्धन ने गाथासप्तशती से केवल श्रृंगारवर्णन की प्रेरणा ही नहीं ली है बल्कि अनेक भावों को भी प्रकारान्तर से अनुवाद किया है। आर्यासप्तशती में एक नवीनता अवश्य दिखाई देती है। वह यह है कि इसमें विभिन्न अक्षरों के नाम पर अकारादिव्रज्या, आकारादिव्रज्या, इकारादिव्रज्या आदि क्रम से व्रज्याओं की योजना की गई है। गोवर्धनाचार्य ने व्रज्याविषयक धारणा को एक नई दिशा दी है। इसके अतिरिक्त आर्यासप्तशती के रूपविधान में अन्य कोई विशेष नवीनता नहीं है। इसका रूपविधान गाथासप्तशती के रूपविधान से बहुत साम्य रखता है। आर्यासप्तशती एक ही कवि के मुक्तकों का संग्रह है।

---

1. गाहा का लक्षण-
पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता ।
जह पढमं तह तीयं दहपंच विहूसिआ गाहा ।। - प्राकृत पैंगल
आर्या छन्द का लक्षण-
यस्याः पादे प्रथमे, द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पंचदश साऽर्या ।।

आर्यासप्तशती हालकृत सतसई को आदर्श मानकर लिखी गयी है। इसकी संपुष्टि के लिए गोवर्धनाचार्य स्वयं कहते हैं कि प्राकृत भाषा में उपलब्ध सरस प्रेम गीतों को संस्कृत के स्तर पर लाने का उनका उद्देश्य वैसा ही है जैसा यमुना को आकाश में प्रवाहित करना-

"वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता ।
निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ।।"[1]

इस उक्ति से ऐसा लक्षित होता है कि आचार्य गोवर्धन से पूर्व संभवतः गाथासप्तशती पर आधृत संस्कृत में कोई अन्य कृति अस्तित्व में नहीं आयी थी। इसप्रकार उन्मुक्त प्रेम के चित्रण की परिपाटी संस्कृत में प्राकृत से ही आई है। तभी तो आर्यासप्तशतीकार ने गाथासप्तशती की अनेक गाथाओं की भावच्छाया ग्रहण करके अपनी आर्याओं की रचना की है।

आर्यासप्तशती पर गाहासत्तसई के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए गाथाओं के भावों पर आधृत आर्यासप्तशती की कुछ आर्याएँ द्रष्टव्य हैं-

गाथासप्तशती का प्रथम छन्द शिवविषयक नमस्कारात्मक मंगलपरक है-

पशुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दं ।
गहिअग्घपंकअं विअ संझासलिलांजलिं णमह ।।[2]

---

1. आर्या सप्तशती ग्र0 प्र0 52

2. गाथा0 1/1

रोष से आरक्त गौरी के मुखचन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण अर्घहेतु गृहीत रक्तकमल से युक्त प्रतीत होने वाली शिव की सन्ध्योपासना के समय जलपूरित अन्जलि को नमस्कार।

आर्यासप्तशतीकार ने भी ग्रन्थ का प्रारम्भ शिवविषयक मंगलपरक श्लोक से किया है। वैसे भी कवि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम अपने ईष्टदेव की स्तुति करते हैं। यहाँ पर गोवर्धनाचार्य ने गाथा की "सन्ध्यासलिलान्जलि" का प्रथम आर्या में प्रयोग न करके बाद के माङ्गलिक श्लोकों में किया है, वह इस प्रकार है-

सन्ध्यासलिलान्जलिमपि कङ्कणफणि-पीयमानमविजानन् ।
गौरीमुखार्पितमना विजया हसितः शिवो जयति ।।[1]

प्रतिबिम्बित गौरीमुख-विलोकनोत्कम्पशिथिलकरगलितः ।
स्वेदभरपूर्यमाणः शम्भोः सलिलान्जलिर्जयति ।।[2]

भगवान् शिव सन्ध्या -पूजन में तत्पर है, किन्तु उनका मन पार्वती के मुख-सौन्दर्य को देखने में लगा है। उधर कङ्कणरूप में बाँधा गया सर्प सलिलान्जलि को पी डाल रहा है। इस प्रकार प्रिया के प्रति आसक्त शिव की गौरी-सखी विजया हँसी उड़ा रही है, ऐसे शिवजी सर्वोत्कृष्ट है।

---

1. आ० स० 6
2. आ० स० 7

शिव की सलिलान्जलि में पार्वती का मुख प्रतिबिम्बित हो रहा है, इसे देखकर शिव को सात्त्विक उत्कम्प हो गया और हाथ के शिथिल हो जाने से सम्पूर्ण जल गिर गया, परन्तु तत्काल ही स्वेदरूप सात्त्विकभाव के आधिक्य से अन्जलि पुन: जल से भर गई। ऐसी भगवान् शिवजी की सलिलांजलि सर्वोत्कृष्ट है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि गाथासप्तशती की शिवस्तुति तथा आर्यासप्तशती की शिव-स्तुति में जहाँ पर कुछ साम्य है वहीं कुछ मौलिक भेद भी है। दोनों ग्रन्थों ने प्रारम्भ में ही इसप्रकार की श्रृंगारिक स्तुति से इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि दोनों का वर्ण्य विषय अत्यन्त श्रृंगारिक है। परवर्ती होने के कारण आर्यासप्तशती की "सन्ध्यासलिलान्जलि" गाथा की "सन्ध्यासलिलान्जलि" से परिष्कृत एवं उत्कृष्ट है।

दोनों ग्रन्थों के माङ्गलिक भावों में पर्याप्त अन्तर है। गाथा० के मांगलिक श्लोक में सामान्य रूप से यह बात कह दी गई है कि शिव की "सन्ध्यासलिलान्जलि" में परस्त्री के ध्यानमग्न होने की शंका से पार्वती का कुपित अतएव रक्तमुख मानों लाल कमल के रूप में प्रतिबिम्बित है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि स्त्री अपने पति पर पूर्ण अधिकार जमाना चाहती है। वह कभी भी पति को अन्यासक्त देखने पर क्रुद्ध हो जाती है। कोपावस्था में मुख लाल हो जाता है। यही कारण है कि पार्वती भी शंकर की सन्ध्या बन्दन के समय अन्यासक्त के भ्रम से कोप कर जाती हैं और उनका रक्तिम कमलवत् मुख सलिलान्जलि में प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसप्रकार गाथा की सन्ध्यासलिलान्जलि में पार्वती का कमलवत्

मुख प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसके विपरीत आर्यासप्तशती की "सलिलान्जलि" को कभी शंकर की पार्वती में आसक्ति को देखकर कङ्कणरूप सर्प पी जाता है और शंकर को इसका पता भी नहीं चलता, और कभी पार्वती का मुख प्रतिबिम्बित होने से शिव में सात्त्विक उत्कम्प हो जाता है जिससे हाथ शिथिल हो जाता है तथा सारी सलिलान्जलि रिक्त हो उठती है। पुनः सात्त्विक भाव के उदय होने से स्वेद से पूर्ण हो जाती है। स्पष्ट है कि गोवर्धनाचार्य ने अपनी शिवविषयक स्तुति में कल्पना का सहारा लिया है नहीं तो सन्ध्या की सलिलान्जलि को सर्प पी लेता है और शंकर को भला पता तक न चलता। इतना ही नहीं अन्जलि के खाली होने के बाद अकस्मात सात्त्विक भावोद्रेक के कारण पुनः अंजलि का स्वेद से भर जाना कवि की कल्पना नहीं तो और क्या ? इसके विपरीत गाथा की स्तुति में सहजता है उसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं।

इसी प्रकार वज्जालग्गं भी शिवविषयक स्तुति को इसप्रकार व्यक्त करती है-

" संझासमये परिकुवियगोरियामुद्दविहडणं विडलं ।
अद्धुम्मिल्लपलोयंत लोयणं तं हरं नमह ।।[1]

आधी खुली आधी बन्द आँखों से देखने वाले उन शिव को प्रणाम करो, जिन्होंने सन्ध्या करते समय कुपित पार्वती की मुखमुद्रा तोड़ दी थी।

---

1. वज्जालग्गं 608

यह गाथा भी वही भाव व्यक्त करती है जिस भाव को गाथासप्तशती तथा आर्यासप्तशती व्यक्त की है। यहाँ पर पार्वती के कोप का कारण शिव की सन्ध्या सपत्नी में अनुरक्ति और गौरी के कुपित मुखमुद्रा (मौन भंग) का कारण साभिलाष निरीक्षण है।

प्रारम्भिक मंगलपरक श्लोक से ही ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य गोवर्धन गाथासप्तशतीकार को इस बात की चेतावनी दे रहे हैं कि प्राकृत भाषा से संस्कृत भाषा किसी भी भावोन्नयन में अधिक उपयुक्त है। ध्यातव्य है कि गाथाकार ने प्राकृत काव्य की अत्यन्त प्रशंसा की है और उन्हें विश्वास है कि श्रृंगारिक प्रसंगों को जितनी सरसता से प्राकृत भाषा में कहा जा सकता है उतना संस्कृत भाषा में नहीं।[1]

गाथाकार ने विष्णु तथा लक्ष्मी के विपरीत सुरत की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है -

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थुअम्मि संकन्तम् ।
दीसइ मअपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ।।[2]

---

1. अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति ।। गाथा० 2
(अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।
कामस्य तत्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते ।।)

2. गाथा० 2/51

इस गाथा का भाव इस प्रकार है, जिसके वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणि में प्रति-बिम्बित लक्ष्मी का मुख सूर्यमण्डल में स्थित मृगरहित चन्द्रमण्डल के सदृश प्रतीत होता है, उस विष्णु भगवान् को प्रणाम।

गोवर्धनाचार्य ने इसी भाव को अभिधा में इस प्रकार कहा है-

प्रतिबिंबितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्ष: ।

पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ।।[1]

भगवान् विष्णु का कौस्तुभमणियुक्त वह वक्षस्थल सर्वोत्कृष्ट है जिसमें प्रिया लक्ष्मी का शरीर प्रतिबिम्बित होता है और जिसे दर्पण के समान मानो देख-देखकर लक्ष्मी जो विपरीत रति का अभ्यास करती है।

गाथा सप्तशती तथा आर्यासप्तशती की विष्णु-लक्ष्मी की स्तुति से इस बात की स्पष्ट सूचना मिलती है कि इन ग्रन्थों में विपरीत सुरत का मनोहारी चित्रण हुआ है। यहाँ पर एक विशेष तथ्य यह है कि जहाँ गाथाकर ने विपरीतरति को व्यंजना द्वारा व्यक्त किया है वहीं पर आर्या सप्तशतीकार ने इसे अभिधा द्वारा ही व्यक्त कर दिया है। स्पष्ट है कि व्यन्जना के माध्यम से कही जाने वाली बात को अभिधा द्वारा कह देना किसी विदग्ध के ही वश की बात है।

---

1. आ० स० 12

वज्जालग्गं में विष्णु एवं लक्ष्मी विषयक विपरीत रति को इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

विवरीयरया लच्छी बंभं दट्ठूण नाहिकमलत्थं ।

हरिणो दाहिणणयणं रसाउला कीस झंपेई ।।[1]

विपरीत रति के समय सानुराग लक्ष्मी ने विष्णु के नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर विष्णु का दाहिना नेत्र क्यों ढक दिया ?

यहाँ पर लक्ष्मी ने विष्णु का दाहिना नेत्र इसलिए बन्द किया जिससे रात हो जाय और नाभिकमल संकुचित हो जाय, परिणमस्वरूप ब्रह्मा उसी में भौरे के समान बन्द हो जाय और अन्य पुरुष की लज्जा दूर हो जाने से विपरीत रति निरन्तर निर्बाध रूप से चलती रहे। विष्णु का दाहिना नेत्र सूर्य होता है अत: दाहिना नेत्र बन्द करने से रात हो जाना अभीष्ट है। अत: तीनों ग्रंथों में लक्ष्मी विषयक विपरीत रति पूर्ण हाव-भाव से व्यक्त की गयी है।

गाथा० में विरहोत्कण्ठिता बहुत दिन बाद आये प्रिय को उलाहना देती हुई अधर की प्रशंसा करते हुए कह रही है-

---

1. वज्जालग्गं 611

पुत्तउच्छआं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उआआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ।।[1]

हे उपकारक ज्वर ! प्राण लेते हुए भी तुमने दुर्लभ व्यक्ति को मेरे पास लाकर मेरे प्रति अपराध नहीं किये हो अपितु उपकार ही किये हो। यहाँ पर यह बात ध्वनित होती है कि ऐसे प्रियतम से अच्छा मरना ही है।

गोवर्धनाचार्य ने गाथा के इस भाव को अपनी आर्या में इस प्रकार व्यक्त किया है-

ज्वर ! वीतौषधबाधस्तिष्ठ सुखं दत्तमंगलमखिलं ते ।
असुलभलोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम् ।।[2]

नायिका कह रही है हे ज्वर ! मैंने प्रसन्नता से तुम्हे अपना शरीर दिया। तुम औषधि से मत डरो। दुर्लभ व्यक्ति को खींच लाने वाले चुम्बक ! मुझे छोड़कर न जाओ।

यहाँ पर दोनों ग्रन्थों में ज्वर को उपकारक माना गया है। नायिका को ज्वर से कोई दुःख नहीं क्योंकि इस ज्वर ने नायक से मिलाने का काम किया है। जिसप्रकार चुम्बक स्थिर लोहे को अपने पास खींच लाता है, उसीप्रकार ज्वर कभी न लौटने वाले

- -

1. गाथा 0 1/50

2. आ0 स0 240

प्रियतम को लाकर उपकार ही करता है। ज्वर सामान्यतया कष्टकारक ही होता है, किन्तु विरहिणी नायक-नायिका के लिए उपकारक सिद्ध होता है, क्योंकि नायक-नायिका संयोग हो जाने पर सब सुख ही सुख दिखाई पड़ता है।

सुरत-काल में हर्ष से विकसित कपोलवाली नायिका रात में अन्य रूप में तथा दिन में अन्य रूप में दिखाई पड़ती है, इस भाव से ओतप्रोत गाथा द्रष्टव्य है-

अण्णासआई देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही अह सेन्ति पिआं ण सद्दहिमो ।।[1]

रात में सुरत के समय आनन्दातिरेकवश रति सम्बन्धी शतशः आज्ञा देने वाली, किन्तु प्रातःकाल नीचो दृष्टि को हुई प्रिया के विषय में यह विश्वास ही नहीं होता कि यह वही रात वाली प्रिया है।

इस प्रसंग को गोवर्धनाचार्य इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

विनयविनता दिनेऽसौ निशि मदनकलाविलासलसदंगी ।
निर्वाणज्वलितौषधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञेया ।।[2]

दिन में विनयनत तथा रात में कामकला के विलास से शोभित शरीर यह सुन्दरी भस्म की हुई औषधि के समान कठिनाई से पहिचान में आती है।

---

1. गाथा० 1/23
2. आ० स० 513

प्राय: लोक-व्यवहार में यह बात देखी जाती है कि रात में रतिकाल में स्त्रियाँ आनन्दित होकर अपने प्रियतम को अनेक आज्ञाएँ देती हैं, किन्तु प्रात:काल होने पर उनकी दृष्टि नीचे की ओर हो जाती है अर्थात् दिन में लज्जा-भाव से विनम्र हो जाती हैं। यह अत्यन्त व्यावहारिक तथ्य है। इस तथ्य के उद्घाटन में गाथाकार तथा आर्यासप्तशतीकार दोनों को समान रूप से महारत हासिल है।

गाथा में गतयौवना के कुचों की उपमा कृतकार्य भटों से दी गई है-

तुंगाणं विसेसनिरन्तराणं सरसव्वणलद्धसोहाणं ।
कअकज्जाणं भडाणं व थणाणं पडणंवि रमणिज्जं ॥[1]

तुंगयोर्विशेषनिरन्तरयोरुन्नतयो: सरसव्रणलब्ध शोभयो:।
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयो: पतनमपि रमणीयम् ॥ ॥

आर्यासप्तशतीकार ने श्लेष के बल से कुचों की उपमा सज्जनों से दी है-

महतो: सुवृत्तयो: सखि हृदयग्राह्योर्ग्ययो: समुच्छ्रितयो: ।
सज्जनयो: स्तनयोरिव निरन्तरं संगतं भवति ॥[2]

---

1. गाथा० 5/27
2. आर्या० 440

नायिका अपनी सखी से कह रही है - हे सखि ! विशाल, वर्तुल (गोल) वक्षस्थल पर आधि-पत्य जमा लेने वाले उत्तुंग कुचों को सदैव महान सदाचारी, हृदयहारी और अभिजात सज्जनों की मैत्री के समान निरन्तर रहता है।

गाथा एवं आर्या के कुचों की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त श्रृंगारिक हैं तभी तो कृतकार्य वीर एवं अभिजात सज्जन की मैत्री की उपमा कुचों से दी है।

प्रवासाभिमुख नायक को पुनः अनुकूल करने की इच्छा से गाथा की दूती-नायक से कहती है-

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे ह सुहअ गन्धरहिअंपि ।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥[1]

हे सुभग ! तुमने उसे अपने हाथ से जो माला दी थी वह यद्यपि अब गन्धहीन हो चुकी है तो भी वह उसे विसर्जित नगरदेवता के समान धारण करती है।

गाथा के इस भाव को 'आर्यासप्तशती' इस प्रकार व्यक्त करती है-

अपनीतनिखिलतापां सुभग स्वकरेण विनिहितां भवता ।
परित्यागनगरपालिन्वरौषधं वहति सा मालाम् ॥[2]

- -

1. गाथा० - 2/94

2. आ० स० 46

हे सुभग ! अखिल सन्ताप §1• दुःख 2• नानाविध ज्वर§ को नष्ट कर देने वाली, आपके द्वारा अपने ही हाथ से पहिनाई गई माला को वह §नायिका§ पति-प्रवास रूप पाण्डु आदि ज्वर के लिए औषध सी धारण किये रहती है।

विपरीत रति में शीघ्र ही श्रान्त हुई नायिका को गाथा का नायक उपालम्भ देता है--

" सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरू विणिमीलिअद्धच्छि ।
दरपुरुसाइरि विसमीर जाणसु पुरिसाणं जं दुःखम् ।।"[1]

§रतिजनित वेग के कारण§ मोरपिच्छ के समान अस्त-व्यस्त केशोवाली जंघाओं पर ही सारा भार पड़ने के कारण काँपती हुई जंघाओ वाली ! अधमुँदी आँखो वाली ! तनिक से ही पुरुषसदृश आचरण §विपरीत रति§ से थक जाने वाली । जान लो कि पुरुषों को रति में कितना दुःख §परिश्रम§ करना पड़ता है।

गोवर्धनाचार्य ने इस भाव को चित्रण इस प्रकार किया है--

वक्षःप्रणयिनि सान्द्रश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनधर्मे ।
सुतनु ललाटनिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ।।[2]

1• गाथा 1/ 52

2• आ0 स0 529

(थककर सोने के लिए) अपने वक्ष: स्थल के विषय में अनुराग रख रही हो, श्रमवश तुम्हारी साँस लम्बी चल रही है (वास्तव में तुम सामर्थ्यविहीन हो रही हो) केवल वचन से सुभट बन रही हो, पसीने से तर हो रही हो, हे शोभन गात्रि ! तुमने अपने मस्तक का तिलक मेरे मस्तक में लगा दिया। अब रुक जाओ, तुम हार चुकी हो।

यहाँ पर दोनों ग्रन्थों ने विपरीत रति के समय स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक दशा का बड़ा सटीक चित्रण किया है। शृंगारिक काव्यों में विपरीत रति का अवश्य चित्रण किया जाता है अतएव विवेच्य ग्रन्थों में भी इसकी बहुलता दिखाई पड़ती है।

व्याध-बाण से आहत हरिणी मरते समय भी प्रिय को निरन्तर दर्शन कर रही है- इस दृश्य को गाथा चित्रित कर रही है-

आअण्णाड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।

अदंसणो पिओ होहिइ त्ति बलिउं चिरं दिट्ठो ।[1]

कान तक खींचकर छोड़े हुए तीक्ष्ण बाण से मर्माहत हिरणी "प्रिय का फिर कभी दर्शन न होगा" यह सोचकर ग्रीवा घुमाकर लालसा एवं उत्कण्ठा से प्रिय को बहुत देर तक देखती रही । यहाँ पर व्यंग्य यह है कि स्त्रियाँ मरते दम तक प्रियतम से विलग नहीं होना चाहती हैं।

---

1. गाथा 6/94

गाथा के इस चित्र को आर्यासप्तशती में इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

दृष्ट्यैव विरहकातरतारकया प्रियमुखे समर्पितया ।

यान्ति मृगवल्लभाया: पुलिन्दबाणार्दिता: प्राणा:।।[1]

मृगी के व्याध-बाण से पीड़ित प्राण विरह-भय से कातर पुतली वाली, प्रिय मृग के मुख पर गड़ाई गयी दृष्टि के मार्ग से ही जा रहे हैं। भाव यह है कि जब हरिणी को यह दशा है तो प्रोषितपतिका नायिका की भला कैसी दशा होगी ? मृगी को इस बा बात से डर है कि वह अपने प्रिय मृग से विलग हो जायेगी। यहाँ पर हरिणी के माध्यम से समस्त स्त्रियों को मृत्यु के समय की आन्तरिक कातरता का वर्णन अभिप्रेत है।

मृग एवं मृगी के माध्यम से गाथाकार ने पति-पत्नी के अन्योन्य प्रेम को दर्शाया है। मृग-मृगी के प्रेम को पराकाष्ठा को देखकर व्याध बाण को दूर फेंक देता है। जब व्याध मृगी को अपना निशाना बनाता है तो उसे बचाने के लिए मृग स्वयं मृगी के सामने खड़ा हो जाता है, इसी प्रकार मृग के निशाना बनने पर मृगी मृग को बचाने के लिए व्याध के सम्मुख खड़ी हो जाती है। इस प्रकार व्याध दोनों के अनन्य प्रेम से द्रवित होकर धनुष बाण फेंक देता है।[2] इस प्रकार के भाव को आचार्य गोवर्धन नहीं व्यक्त कर सकते । हाँ इतना जरूर कर सकते हैं कि मृग-मृगी का वर्णन कर दें, किन्तु गाथा जैसी स्वाभाविकता एवं सहजता नहीं आ सकती।

1; आ0 स0 283

2• एक्कक्कमपरिरक्खणपहारसंमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि ।
वाहेण मण्णुविअलन्तवाहधोअं धणु मुक्कं ।। - गाथा 7/1

जयवल्लभकृत वज्जालग्गं में भी यही भाव देखने को मिलता है। वज्जालग्ग में भी मृग-मृगी के अनन्य प्रेम को इस प्रकार दर्शाया गया है-

एक्केण वि सरउ सरेण वाह किं बीयएण गहिएण ।

एक्कं पि वसई जीयं ह्यास दोण्हं पि य सरीरे ।।[1]

कोई व्याध से कह रहा है कि हे व्याध ! तुम केवल एक ही बाण छोड़ो दूसरे बाण को छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। इन दोनों मृग-मृगियों में एक ही जीव बसता है। अतः एक ही बाण से दोनों एकसाथ मर जायेंगे।

यहाँ पर दो शरीर में एक ही प्राण होना अनन्य प्रेम का द्योतक है। एक बाण से मृग एवं मृगी के मारने का तात्पर्य यह है कि एक के मरने पर दूसरा अपने आप मर जायेगा।

प्रोषितपतिका की मनोदशा का चित्रण गाथा इस प्रकार करती है-

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जंगओत्ति गणरीए ।

पढम च्चिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ।।[2]

आज गये, आजगये, आज गये ऐसा बार-बार गिनती हुई नायिका दिन के पूर्वार्द्ध में ही घर की दीवालों को रेखाओं से चित्रित कर डाला।

---

1. वज्जालग्गं - 217

2. गाथा - 3/8

आर्यासप्तशती में इस भाव को इसप्रकार ग्रहण किया गया है-

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग ।

गण्डस्थलीव तस्याः पाण्डुरिता भवनभित्तिरपि ।।[1]

यहाँ पर सखी नायक से नायिका की विरह-दशा का वर्णन कर रही है- हे सुभग ! तुम्हें गये इतने दिन हो गये - इस बात की जानकारी रखने के लिए उज्ज्वल रेखाओं से चिह्नित, उसके घर की दिवाल भी, उसकी गण्डस्थली की तरह श्वेत हो गयी है।

यद्यपि गाथा तथा आर्या दोनों प्रोषितपतिका की विरह व्यथा को चित्रित करती हैं तथापि दोनों के भावों में विशेष अन्तर है। आर्यासप्तशती की भी नायिका पति के परदेश जाते समय दिवालों पर रेखाओं को चित्रित करती है, किन्तु गाथासप्तशती का सहज भाव यहाँ कहाँ ? आज गया, आज गया, आज गया गिनकर दिवालों में पूर्वार्द्ध में ही चित्रित कर देने में जो मनोवैज्ञानिक तथ्य है वह भला श्वेत रेखाओं से चित्रित गण्डस्थली के समान श्वेत दिवालों में कहाँ ? गोवर्धनाचार्य तो कल्पना के द्वारा सहज भावों को लुप्त कर दिये हैं। कोई भी कवि कल्पना के माध्यम से स्वाभाविक भावों को नहीं प्रकट कर सकता। गाथा में "प्रथमदिनार्द्ध" शब्द से नायिका की अत्यन्त व्यग्रता सूचित होती है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. आ० स० 260

आर्या में श्वेत रेखाओं से चित्रित दिवालों का गण्डस्थली के समान श्वेत हो जाने से नायिका के धैर्य तथा बहुत समय तक प्रवास का बोध होता है।

गाथा और आर्या के इसी भाव को वज्जालग्गं में इस प्रकार ग्रहण किया गया है-

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति लिहिरीए ।

पढम च्चिय दियहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ ।।[1]

यह गाथा तो पूर्वोक्त गाथासप्तशती की गाथा का बिल्कुल मिलता-जुलता रूप है। ऐसा लगता है जैसे यह गाथा बिना किसी परिवर्तन के यहाँ पर ग्रहण कर ली गयी है। दोनों गाथाओं में मात्र एक शब्द का अन्तर है- वह है - "गणरीए" तथा "लिहिरीए"। गाथा-सप्तशती के "गणरीए" के स्थान पर वज्जालग्गं में "लिहिरीए" शब्द को प्रयोग कर दिया गया है।

इस प्रकार प्रोषितपतिका की विरहावस्था की इस भावभूमि को तीनों कृतियों ने समान रूप से स्पर्श किया है।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

1. वज्जालग्गं - 377

गाथासप्तशती में कोई प्रोषितभर्तृका अपने बाँये नेत्र के स्फुरित होने पर कहती है-

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सा पिओज्ज ता सुइरं ।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सं ॥[1]

"अरे वामनेत्र ! तुम्हारे स्फुरण होने से यदि मेरे प्रियतम आज ही आ जायेंगे अर्थात् यदि तुम्हारा फड़कना आज प्रियतम के शुभागमन का सूचक हो गया तो मैं दक्षिण नेत्र को मूँदकर देर तक तुमसे ही उनका दर्शन करूँगी।"

सामुद्रिक शास्त्र में स्त्रियों के बामांग का फड़कना शुभसूचक शकुन माना जाता है। प्रस्तुत गाथा में नायिका का बाँया नेत्र स्पन्दन कर रहा है अतः वह अपने पति के आगमन की शुभकामना कर रही है। प्रिय के आगमन पर वह शुभसूचना देने वाले बाँये नेत्र को पारितोषिक देगी। पारितोषिक है दक्षिण नेत्र को बन्द करके बहुत देर तक बाँये नेत्र से पति को देखना। कितना स्वाभाविक एवं सरस चित्रण है।

गाथा के इसी रूप का चित्रण आर्यासप्तशती इस प्रकार करती है-

प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।
प्रियसंगाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम् ॥[2]

---

1. गाथा सप्तशती 2/37

2. आ0 स0

सखी नायिका की दशा को दूती से बता रही है- प्रियतम के संगम की शुभसूचना देने वाली बायी भुजा को वियोगिनी प्रणाम करती है, देखती है, चूमती है, रोमान्च से मुकुलित अंगों से उसका आलिङ्गन करती है।

प्रस्तुत आर्या में भी गाथा की ही भाँति नायिका प्रोषितपतिका है तथा प्रिय संगम की शुभसूचना देने वाली बायी भुजा का फड़कना भी गाथा की ही भाँति है। गाथा में बाँया नेत्र फड़कना शुभसूचक माना गया है। सामुद्रिक शास्त्र में स्त्रियों के बाये अंग का फड़कना तथा पुरुषों के दाहिने अंग का फड़कना शुभसूचक माना गया है।

गाथा सप्तशती में प्रिय को उपालम्भ देती नायिका कह रही है-

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
राअभरिए वि हिअए सुअह णिहित्तो ण रत्तो सि ।।[1]

हे सुन्दर ! यद्यपि तुम धवल (श्वेत तथा श्रेष्ठ) हो तथापि तुमने मेरे हृदय को अनुरञ्जित कर दिया है। और हे सुभग ! मैंने तुम्हें अपने रागभरे हृदय में रखा है फिर भी तुम रक्त नहीं हुए हो।

यहाँ पर "मुझ अनुरागिणी में भी तुम अनुराग नहीं रखते" नायिका का नायक को यह उपालम्भ है। नायक के प्रति " मैं तुम में अनुरक्त हूँ किन्तु तुम फिर भी मुझसे प्रेम नहीं करते" वस्तु व्यङ्ग्य है। "राग-भरिते" शब्द से हृदय में प्रेम की पूर्णता व्यंजित है। इस प्रकार यह गाथा पूर्णतया व्यंजना से ओतप्रोत है।

---

1. गाथा सप्तशती 7/65

आर्यासप्तशती भी गाथा की ही शैली का अनुकरण करके इसप्रकार उपालम्भ दिलवाती है-

"सोऽपि लग्नेव वसन्ती सदाशोऽशये महति रसमये तस्य ।
वाडव शिखेव सिन्धोर्न मनागप्यार्द्रतां भजसि ॥[1]

यहाँ पर दूती नायिका से कह रही है। हे सखी ! समुद्र के जलमय प्रशस्त अन्तःप्रदेश में सदा लगी हो रहती बड़वाग्नि की लपट की तरह, तुम प्रीतिमय प्रशस्त अन्तःकरण में सदा लगी ही रहती हो फिर भी तू आर्द्रता को नहीं प्राप्त होती है।

गाथा में नायक को नायिका का उपालम्भ व्यक्त किया गया था, और यहाँ पर दूती नायिका को उपालम्भ देती है। नायक तो नायिका में अनुरक्त है किन्तु नायिका नायक के प्रति रूखा भाव रखती है। आर्या इस भाव को व्यक्त करती है। इसी शैली में एक अन्य आर्या इस प्रकार है-

सा निरसे तव हृदि प्रविशति निर्याति न लभते स्थैर्यम् ।
सुन्दर सखी दिवसकरबिम्बे तुहिनांशुरेखेव ॥[2]

- -

1. आ० स० 655

2. आ० स० 639

यहाँ नायिका की सखी नायक को उपालम्भ दे रही है- हे सुन्दर ! प्रेमरहित तुम्हारे हृदय में वह सुन्दरी प्रवेश करती है, निकलती है, स्थिरता को नहीं पाती है, जैसे चन्द्रलेखा सूर्यबिम्ब में प्रवेश करती है, निकलती है तथा स्थिर नहीं होती है।

अन्यपत्नी के समागम में भी नायक को अपनी पूर्वपत्नी का स्मरण होता ही है - इस भाव को गाथा बड़ी सहजता से कहती है-

अक्खड़इ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स ।
दिट्ठे सरिसम्मि गुणेऽसरिसम्मि गुणे अईसन्ते ।।[1]

अन्य स्त्रियों के साथ रमण करते हुए उनमें प्रथम प्रिया के समान गुण(हावभावादि) दीखने पर और असमान गुण न दीखने पर पहली प्रियतमा की याद हृदय में अखरने लगती है।

गाथा के इसी भाव को आर्यासप्तशती इस प्रकार चित्रित करती है-

निहितायामस्यामपि सैवैका मनसि मे स्फुरति ।
रेखान्तरोपधानात्पत्त्राक्षरराजिरिव दयिता ।।[2]

यहाँ पर नायक प्रथम नायिका की सखी से कह रहा है- हे सखी ! द्वितीय नायिका के मन में रहने पर भी केवल वही एक (प्रथम) नायिका ही मेरे मन में स्फुरित होती है- उसी में मेरी आसक्ति है। उसी की शोभा इससे बढ़ती है। जैसे पत्राक्षर की पंक्ति के ऊपर रेखान्तर-विधान से उसी पत्राक्षर पंक्ति की शोभा बढ़ती है ।

---

1. गाथा० 1/44
2. आ० स० 337

गाथा तथा आर्या दोनों का आशय एकसमान है। दोनों में इस बात पर जोर दिया गया है कि पहला प्रेम बाद के प्रेम से उत्कृष्ट होता है। प्राय: यह लोकसंवेद्य उक्ति है कि पहला प्यार कभी नहीं भूलता है।

गाथासप्तशती में नायिका की उपमा हंसी से दी गयी है-

पिज्जइ कण्णञ्जलिहिं जणरवमिलिअं पि तुज्झ संलावं ।

दुद्धं जलसम्मिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥[1]

नायिका के प्रेम में संदेह करने वाले नायक से दूती कह रही है-"अन्य लोगों के शब्दों के साथ मिले हुए तुम्हारे वचनों को वह बाला अपने कर्णाञ्जलि से उसी प्रकार पी लेती है जिस प्रकार राजहंसी जलमिश्रित दूध को।

यहाँ पर नायिका की उपमा राजहंसी से देकर नायिका की विशुद्धता तथा सदसद्विवेक की ओर इंगित किया गया है। जिसप्रकार हंसी पानी मिले हुए दूध को अलग-अलग करके केवल दूध का पान करती है उसीप्रकार यहाँ नायिका अन्य लोगों के शब्दों के साथ मिले हुए प्रिय के वचनों को अलग करके श्रवण करती है। यहाँ यही भाव व्यंजित होता है।

- - - - - - - - - - - - - - - -

1. गाथा० 7/76

आर्यासप्तशतीकार ने भी नायिका की उपमा हंसी से दी है-

त्वद्विरहापदि पाण्डुस्तन्वंगी छाययैव केवलया ।

हंसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग प्रत्यभिज्ञेया ।।[1]

सखी नायिका की विरहावस्था का वर्णन नायक से करती है- हे सुभग ! वह दुबली-पतली शरीर वाली तुम्हारे विरह रूप दुःख में इतनी पीली हो गयी है कि चाँदनी में हंसी के समान केवल छाया से ही पहचानी जा सकती है।

गाथा तथा आर्या दोनों में यद्यपि नायिका की उपमा राजहंसी से दी गयी है फिर भी दोनों का कथ्य अलग-अलग है। गाथा की उपमा आर्या की उपमा से उत्कृष्ट प्रतीत होती है। गाथा में राजहंसी के गुणों को नायिका के गुणों के रूप में निरूपित किया गया है। आर्या में हंसी के श्वेत रंग को केवल नायिका के विरहावस्था के पीलेपन से किया गया है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि एक हंसी के आभ्यान्तरिक गुणों को नायिका में ग्रहण करता है और दूसरा हंसी के बाह्य रंग विशेष का।

दाम्पत्य में सुख-दुःख समान रूप से वर्तमान रहता है- इस तथ्य का उद्घाटन गाथा इस प्रकार करती है।

---

1. आर्या 0 25।

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं ।

मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ।।[1]

समान सुख-दुख तथा बढ़े हुए निश्चल प्रेमयुक्त प्रेमीयुगल में से जो मर जाता है वह जीवित रहता है और जो जीवित रहता है वह मर जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मृत्यु के दुःख से विरह का दुःख अधिक सताता है।

इसी दाम्पत्य को आर्यासप्तशती इस रूप में चित्रित करती है-

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।

सामान्यमरणजीवनसुखदुःखं जयति दाम्पत्यम् ।।[2]

जिसमें अकारण ही अपराध होता है , अकारण ही कलह , क्रोध और सन्तोष होता है, जिसका साधारण मरण-जीवन, सुख-दुख है, ऐसा ही दांपत्य सर्वोत्कृष्ट होता है इसके विपरीत अपकृष्ट होता है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि दोनो ग्रन्थ पति-पत्नी के अन्योन्य सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। दाम्पत्य की व्याख्या गाथा और आर्या में अलग-अलग तरीके से किया गया है। पति के सुख-दुख को पत्नी अपना सुख-दुख समझती है इसके विपरीत पत्नी के सुख-दुःख को पति अपना सुख-दुःख समझता है- यही आदर्श दांपत्य माना जाता है। लोक में भी ऐसे ही दाम्पत्य की प्रशंसा की जाती है। आर्या में दांपत्य को अहेतुक बताया गया है। नायक द्वारा

---

1. गाथा सप्तशती 2/42

2. आर्यासप्तशती 334

बताये गये संकेतस्थल पर नायिका के न पहुँचने के कारण उसका मुँख लज्जा एवं विरहजन्य खेद से फीका पड़ गया - यह चित्रण गाथा में दर्शनीय है-

सामाइ सामलिज्जई अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभमिरए हलिअपुत्ते ।।[1]

हलिकपुत्र को जामुन के किसलय को कान में आभूषण के रूप में धारण करके घूमते हुए देखकर कटाक्ष से देखने वाली षोडसी सुन्दरी के मुख का रंग श्यामल सा हो गया है ।

हलिकपुत्र संकेतस्थल पर सुन्दरी के न पाने पर उसे यह जताने के लिए कि मैं वहाँ गया था- कान में जामुन के पत्ते को आभूषण के रूप में धारण कर लिया- यह भाव व्यन्जित है। षोडशी सुन्दरी का मुँख विवर्ण होने में यह भाव व्यन्जित है कि मैं वायदे के मुताबिक संकेतस्थल पर नहीं पहुँच सकी।

आर्या0 में भी नायक संकेतस्थल पर जाकर नायिका के न पाने पर हाथ में आम्रपल्लव को लेकर वापस लौटता है तो इसको देखकर नायिका मूर्च्छित हो जाती है-

कोपवति पाणिलीलाचन्चलचूताङ्कुरे त्वयि भ्रमति ।
करकम्पितकरवाले स्मर इव सा मूर्च्छिता सुतनुः ।।[2]

---

1. गाथा 2/80

2. आर्या 190

नायक से नायिका की सखी कह रही है कि जब तुम संकेतस्थल पर नायिका को न पा सके तो क्रोधयुक्त हाथ में लीला से चन्चल आम्रपल्लव लिये हाथ में तलवार लपलपाते कामदेव के समान घूर रहे थे, वह सुन्दरी ﴾वायदे के अनुसार संकेतस्थल पर न पहुँचने के कारण﴿ मूर्छित हो गई थी।

दोनों ग्रन्थों में नायिका वायदे के अनुसार संकेतस्थल पर न पहुँच पाती है। दोनों में निराश प्रेमी संकेतस्थल पर जाने की पुष्टि हेतु जम्बूकिसलय तथा आम्रपल्लव प्रतीक के रूप में धारण करते हैं। दोनों स्थलों में नायिका को वायदा न पूरा करने का अत्यन्त कष्ट होता है जिसके फलस्वरूप वे मलिन तथा मूर्च्छित हो जाती है। किन्तु जो भाव गाथा की नायिका के मुँख के विवर्ण होने में है, वह आर्या की नायिका के मुर्च्छित होने में नही है। गाथा में प्रेमी हलिकनन्दन है जो ग्राम्य का निवासी है तथा प्रेमिका गाँव की सुन्दरी है अत: उसमें लज्जा का आधिक्य है । आर्या0 में नायक नायिका नागर है अत: नायिका में बनावट है। बनावट के फलस्वरूप ही वह नायक को देखकर मलिन मुँखवाली नही होती अपितु मूर्च्छित होकर अपनी गलती को प्रकट करती है। यहाँ पर जो सूक्ष्म अन्तर है वह ग्राम्य-परिवेश तथा नगर के परिवेश का है।

एक विशेष बात यह है कि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में मध्यम काव्य के उदाहरण के लिए जिस प्रसंग को उद्धृत किया है वह भी उपर्युक्त प्रसंगों से बिल्कुल साम्य रखता है। वह इस प्रकार है-

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं ।

मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ।।[1]

समान सुख-दुख तथा बढ़े हुए निश्चल प्रेमयुक्त प्रेमीयुगल में से जो मर जाता है वह जीवित रहता है और जो जीवित रहता है वह मर जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मृत्यु के दुःख से विरह का दुःख अधिक सताता है।

इसी दाम्पत्य को आर्यासप्तशती इस रूप में चित्रित करती है-

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।

साधारणमरणजीवनसुखदुःखं जयति दाम्पत्यम् ।।[2]

जिसमें अकारण ही अपराध होता है , अकारण ही कलह , क्रोध और सन्तोष होता है, जिसका साधारण मरण-जीवन, सुख-दुख है, ऐसा ही दांपत्य सर्वोत्कृष्ट होता है इसके विपरीत अपकृष्ट होता है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि दोनो ग्रन्थ पति-पत्नी के अन्योन्य सम्बन्ध को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। दाम्पत्य की व्याख्या गाथा और आर्या में अलग-अलग तरीके से किया गया है। पति के सुख-दुख को पत्नी अपना सुख-दुख समझती है इसके विपरीत पत्नी के सुख-दुःख को पति अपना सुख-दुःख समझता है- यही आदर्श दांपत्य माना जाता है। लोक में भी ऐसे ही दाम्पत्य की प्रशंसा की जाती है। आर्या में दांपत्य को अहेतुक बताया गया है। नायक द्वारा

- -

1. गाथा सप्तशती 2/42

2. आर्यासप्तशती 334

भी स्पर्श के योग्य नहीं मानी जाती। चूँकि आर्या तथा गाथा में शृंगार का उद्दाम चित्रण हुआ है अत: इनके अत्यन्त कामासक्त नायक रजस्वला का भी आलिङ्गन कर लेते हैं तथा साथ-साथ सोने की अभिलाषा रखते हैं।

गाथा में गाय दुष्टबैल की सींग से अपने नेत्रपुट को खुजलाती हुई गायों के बीच अपने सौभाग्य पर गर्व करती है- यह चित्र गाथा में द्रष्टव्य है-

पाअडिअं सोहग्गं ि तम्बाए उअह गोठमज्झम्मि ।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अक्खिउडं कण्डुअन्तीए ।।[1]

शब्दार्थ यह है कि इस गाय ने गोष्ठ के मध्य में दुष्ट बैल के सींग से अपने नेत्रपुट को खुजलाते हुए निज सौभाग्य को व्यक्त किया है। यहाँ पर गाथा के कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से बहुवल्लभा नायक से प्रेम करने वाली नायिका का वर्णन किया है। इस गाथा के प्रत्येक शब्दों में व्यंजना है। "गोष्ठ" शब्द गायों के बाड़े को कहा जाता है किन्तु यहाँ पर गोष्ठ शब्द से नायक की बहुवल्लभता प्रतीत होती है। "दुष्ट वृषभ" से नायक की स्वेच्छा चारिता तथा स्त्री-लम्पटता अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। तीक्ष्ण सींग में कोमल नयनपुट को खुजलाने से नायिका का अतिशय प्रेम व्यंजित है। इस प्रकार यहाँ गाय एवं दुष्ट बैल के माध्यम से नायिका एवं स्वेच्छा चारी नायक का वर्णन अभिप्रेत है।

---

1. गाथा० 5/60

दोनों गाथाओं का भाव यह है- पति की भुजा के ऊपरी भाग में रजस्वला के सिर से लगे हुए वर्णघृत (हल्दीमिश्रितघी) को देखकर सपत्नियाँ रोने लगी।

पुनः नायक रजस्वला से कहता है - यदि लोग खिन्न होते हैं तो होने दो। निन्दा होती है तो हो, किन्तु हे रजस्वले ! आओ मेरे पास ही सोओ। बिना तुम्हारे मुझे निद्रा नहीं आती।

आर्यासप्तशती में भी रजस्वला का वृत्तान्त बताते हुए नायक कह रहा है-

मा स्पृश मामिति सकुपितमिव भणितं व्यञ्जिता न च व्रीडा ।

आलिङ्गितया सस्मितमुक्तमनाचार किं कुरुषे ।।[1]

नायक द्वारा आलिंगन करते समय मुझे मत स्पर्श करो ऐसी मिथ्या कोपयुक्त वाणी बोली, कि हे आचारहीन ! यह क्या कर रहे हो ? यहाँ काकुवैशिष्ट्य से यह अर्थ निकलता है कि तुम्हें आलिंगन अवश्य करना चाहिए क्योंकि कामिनियों को रति में सदैव आनन्द की अनुभूति होती है। गाथा० एवं आर्या० के रजस्वला विषयक विवेचन से यह ज्ञात होता है कि पुष्पवती स्त्री में यद्यपि काम की अधिकता रहती है, फिर भी उसका पति के पास शयन करना लोकमर्यादा का उल्लंघन है। आज भी रजस्वला की वही लोकसीमाएँ हैं। रजोवती स्त्री पाँच दिन तक आज

---

1. आर्यासप्तशती -430

गाथा के इस चित्र को आर्या0 में इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

सौभाग्यगर्वमेका करोतु यूथस्य भूषणं करिणी ।

अत्यायामवतोर्या मदान्धयोर्मध्यमधिवसति ।।[1]

यहाँ भावार्थ यह है कि करिसमूह का भूषण केवल हस्तिनी ही सौभाग्य का गर्व करे, जो विशाल काय, मदोन्मत्त दो म हाथियों के बीच में रहती है। यहाँ भी अन्योक्ति द्वारा सामान्य वनिता का वर्णन किया गया है। यहाँ पर यह भाव व्यङ्ग्य है कि जैसे एक हथिनी को मतवाले गजों को समाधान करती है उसी प्रकार सामान्य स्त्री को अनेक पुरुषों के साथ अनुरक्त रहना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह सौभाग्य पर इठला सकती है इसके विपरीत आचरण करके सौभाग्य पर गर्व नहीं कर सकती।

इस प्र-कार गोवर्धनाचार्य ने गाथा के गाय एवं दुष्टबैल की जगह हस्तिनी एवं मदोन्मत्त गजों का प्रयोग किया है, शेष भाव वही है जो गाथा की है। दोनों स्थानों पर अन्योक्ति का सहारा लिया गया है।

गाथासप्तशती के भावों को आचार्य गोवर्धन ही नहीं अपितु संस्कृत साहित्य के महान् कवि कालिदास ने भी ग्रहण किया है। जहाँ गाथा में गाय अपने नयनपुट को दुष्ट बैल की तीक्ष्ण सींग में खुजलाती है वहीं कालिदास भी अभिज्ञानशाकुन्तल में हरिण की सींग से

---

1. आर्या सप्तशती 590

हरिणी आँख खुजलाती हुई अपने सौभाग्य का परिचय देती है। अभिज्ञानशाकुन्तल का यह प्रसंग जो गाथा से प्रभावित हुआ है वह इस प्रकार है-

कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः ।
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।।[1]

यहाँ पर कालामृग अपनी प्रियतमा हरिणी के बायें नेत्र को अपनी नुकीली सींग में खुजलवा रहा है। निश्चित ही कालिदास ने इस मार्मिक चित्र को पूर्वोक्त गाथा से ग्रहण किया है। कालिदास ने इस भाव को अलग रूप से चित्रित करने की पूरी कोशिश की है, परन्तु तो भी गाथा के भाव को नहीं ग्रहण कर पाये हैं। तुलना करने पर गाथा की उक्ति को कालिदास नहीं पा सके हैं। हरिणी अपने बाये नेत्र को हरिण की सींग में खुजलाये- यह सामान्य बात है किन्तु गाय दुष्ट बैल की सींग में अपने कोमल नेत्रपुट को खुजलाये यह विशिष्ट प्रेम का द्योतक है। गाय यदि बैल की सींग में अपने नेत्र खुजलाती तो यह कालिदास के भाव से ही मिलती किन्तु यहाँ पर बैल कोई सीधा-सादा नहीं है अपितु दुष्ट है। अब एक तो तीक्ष्ण सींग दूसरे दुष्ट बैल की। नेत्र को खुजलाते समय ऐसा बैल अपनी सींग से गाय को क्षति पहुँचा सकता है, किन्तु इस दुष्ट बैल में भी गाय अपना आधिपत्य जताती है-यही कालिदास से गाथाकार की विशेषता है।

---

1. अ० शाकु०

नायक-नायिका के प्रणय-कलह का चित्रण गाथा में द्रष्टव्य है-

पणअकुविआणँ दोह्ण वि अलिअपसुत्ताणँ माणइल्लाणँ ।

णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणँ को मल्लो ।।[1]

सखी नायक-नायिका के प्रणय-कलह का वृत्तान्त बता रही है- ~~प्रणयकुपित - कलह का वृत्तान्त बता रही है~~ - प्रणयकुपित होने के कारण तुम दोनों रूठे हुए हो, पड़कर सोने का केवल बहाना बना रहे हो किन्तु अपनी श्वास रोककर निश्चल रूप से कानों को {एक दूसरे की आहट सुनने के लिए} परस्पर लगाये हुए तुम दोनों में कौन मल्ल है।

यहाँ पर यह भाव ध्वनित हो रहा है है कि तुम दोनों परस्पर उपेक्षा नहीं कर सकते अत: मान छोड़ना ही श्रेयष्कर होगा ।

गाथा में ही नायक - नायिका के प्रणय-कलह का एक अन्य चित्रण द्रष्टव्य है-

अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसराणँ ।

दो च्चिअ मण्णे कअमण्डणाइँ समअं पहसिआइं ।।[2]

परस्पर प्रेम में झगड़ते हुए नायक-नायिका से उनकी सखी बोली-देखो, मेरे विचार से नेत्र के कोने से देखने पर परस्पर दृष्टि के मिल जाने पर दोनों ने एक ही साथ हँसा है।

---

1. गाथा 1/27

2. गाथा 7/99

भाव यह है कि दोनों परस्पर अत्यन्त आसक्त हैं, रूठकर यह झगड़ना कि कौन पहले हँसा ? रति औत्सुक्य को बताता है।

गाथा के उपर्युक्त भावों को आर्यासप्तशती इस प्रकार चित्रित करती है-

निशि विषमकुसुमविशिखप्रेरितयोर्मौनलब्धरतिरसयोः ।

मानस्तथैव विलसति दंपत्योरशिथिलग्रन्थिः ।।[1]

भावार्थ यह है कि कामदेव के असह्य कुसुमबाण से प्रेरित नायक-नायिका ने रात में परस्पर मौन रति का मजा लिया और उनका मान पूर्ववत् ज्यों का त्यों बना रहा, उनकी गाँठ तक भी ढीली नहीं हुई।

प्रस्तुत आर्या के भाव का अध्ययन करने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि यह आर्या गाथासप्तशती तथा अमरूकशतक दोनों ग्रन्थों से समान रूप से प्रभावित हुई है। आर्या को प्रभावित करने वाली दो गाथाएँ पहले ही दी जा चुकी हैं। यहाँ प्रस्तुत है 'अमरूकशतक' का श्लोक-

एकस्मिन्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो -

रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।

दंपत्योः शनैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-

र्भग्नो मानकलिः सहासरभसं व्यावृत्तकण्ठग्रहः ।।[2]

---

1. आर्या0 327

2. आमरूशतकम् -23

नायक-नायिका एक ही शय्या पर परस्पर एक दूसरे की तरफ पीठ करके चुपचाप पड़े है, यद्यपि दोनों खिन्न भी है तथा हृदय में एक दूसरे को मनाने की भी भावना है फिर भी दोनों अपने-अपने गौरव की रक्षा में लगे है, किन्तु जब दोनों ने चुपके-चुपके एक दूसरे को कनखियों से देखा तो दोनों की आँखें मिल गयी, मानजन्य कलह नष्ट हो गया और दोनों ने बड़े वेग से हँसते हुए एक दूसरे के गले में बाहें डाल दी।

तीनो ग्रन्थों में प्रणय कलह की एक समान झाँकी प्रस्तुत की गयी है। आज भी मान किये हुए प्रेमी युगल की यही दशा होती है।

जाते हुए नायक को नायिका चहार-दीवारी के प्रत्येक झरोखों से कितनी उत्सुकता से देखती है- इस भाव को गाथा जिस रूप में प्रस्तुत करती है वह दर्शनीय है-

एक्केक्कमवइवेढणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।

तइ वोलन्ते बालअ पन्जरसउणाइअं तीए ।।[1]

नायक के प्रति नायिका के अनुराग का वर्णन सखी कर रही है- हे बालक ! जब तुम नायिका के घर के पास से गुजरते हो तो वह चहार दीवारी के प्रत्येक झरोखों से अपने चन्चल नेत्रों को डालकर वैसा ही आचरण करती है जैसा पिंजड़े में बन्द पक्षी।

यहाँ पर "बालक" शब्द की व्यंजना यह है कि तुम प्रेम की वास्तविकता से अनभिज्ञ हो । नायिका का पिंजड़े के तोते के समान व्यग्र होकर देखना-नायक के प्रति नायिका की अतिशय उत्कण्ठा व्यङ्ग्य है। नायिका की पिंजड़े में बन्द तोते से उपमा देकर यह बात पुष्ट

1• गाथा0 3/20

की गयी है कि नायिका घर में ही रहने के लिए विवश है। इतना होते हुए भी यहाँ नायिका का नायक के प्रति अतिशय अनुराग ध्वनित होता है।

गाथा के उपर्युक्त भाव को आर्यासप्तशती इस प्रकार चित्रित करती है-

" वृतिविवरेण विशन्ती सुभग त्वामीक्षितुं सखी दृष्टि: ।

हरति युवहृदयपंजरमध्यस्था मन्मथेषुरिव ।।[1]

सखी नायक से कह रही है- हे सुभग ! दीवाल के छिद्र से तुम्हें देखने के लिए प्रविष्ट होती, युवकों के हृदयपन्जर में स्थित कामदेव के बाण के समान, मेरी सखी की दृष्टि तुम्हें हरती है। इसका आशय यह हुआ कि मेरी सखी तुमसे अत्यन्त प्रेम करती है तभी तो दीवाल के छिद्रों से भी देखना चाहती है। यहाँ भी नायिका चहारदीवार से बाहर जाने को स्वतन्त्र नहीं है।

यद्यपि गाथा और आर्या दोनों नायिका द्वारा नायक के प्रति अतिशय अनुराग को व्यक्त करती हैं तथापि दोनों के भावों में अन्तर है। गाथा में नायिका की अतिशय व्यग्रता को सूचित करने के लिए पिजड़े में बन्द तोते का दृष्टान्त दिया है। जो भाव पिजड़े के तोते की उपमा से मिलता है वह केवल दिवाल के छिद्रों से देखने में नहीं। गाथाकार की यही अपनी मौलिकता है। आर्या सप्तशती तो सांस्कृतिक चमत्कार के चक्कर में भाव की प्रवणता को तिलांजलि

1• आर्या 544

दे देती है।

अनेक सुन्दरियों के साथ रमण करने वाले नायक से दूती गाथा में कहती है-

महिलासहस्सभरिए तुह हिअो सुअस सा अमान्ती ।

दिअअं अणण्णकम्मा अंग तणुअं पि तणुइइ ।।[1]

शब्दार्थ इस प्रकार है - हे सुभग ! हजारों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में न समाती हुई वह दिनभर अन्य कोई काम न करके पूर्व से ही क्षीण अपने शरीर को और भी क्षीण करती जा रही है। यानी नायिका सबकुछ छोड़कर एकमात्र तुम्हें ही पाने का प्रयत्न कर रही है, इसी कारण वह अपने दुर्बल शररी को और भी दुर्बल करती जा रही है।

गाथा के इस भाव पर आदृत आर्या द्रष्टव्य है-

प्रददाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुंगजघनोरु: ।

या लुप्तकीलभाव याता' हृदि वहिरदृश्यापि।।[2]

अन्य स्त्री में आसक्त नायक से नायिका की सखी कह रही है - जो ‌‍[स्त्री] तुम्हारे हृदय में लोह-कील के समान घुसकर लुप्त हो गयी है, बाहर से दिखाई भी नहीं देती है, वह बड़े और उन्नत जघन और जंघभाग वाली [इस समय] अन्य स्त्रियों को प्रवेश करने भी नहीं देती है।

- -

1. गाथा० - 2/82

2. आर्या० - 374

यहाँ गाथा तथा आर्या दोनों ही अन्य अंगनासक्त नायक के प्रति नायिका की चेष्टा का चित्रण करती हैं। गाथा में नायिका हजारों स्त्रियों वाले नायक के भी हृदय में बसने की पूरी कोशिश करती है, इसके विपरीत आर्या में नायिका के ऐसे किसी उपाय का कोई जिक्र नहीं किया गया है। चूँकि गाथा की नायिका ग्राम्ययुवती है अत: वह पति पर किस प्रकार कब्जा किया जा सकता है- इससे भलीभाँति परिचित है। आर्या की नायिका नगर की रहने वाली है अत: वह बहुत स्त्रियों वाले पति को प्राप्त करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखती है अरे और न ग्राम्ययुवती की भाँति उसमें पति के प्रति उतना अनुराग भी रहता है। अत: गाथा के भाव में सरसता तथा भावप्रवणता है तथा आर्या में भाषा का चमत्कार ।

गाथा का कवि नायिका के केशकलाप पर उत्प्रेक्षा के माध्यम से जिस कल्पना को किया है वह दर्शनीय है-

पत्तणिअम्बप्फंसाण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्गीये ।

जलबिन्दुएहिं चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ।।[1]

प्रसंग यह है कि नायिका तुरन्त स्नान करके उठी है, उसके केशों से पानी चू रहा है, ये बाल स्तनों तक लटक रहे हैं, इस पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मानों ये बाल बन्धन के भय से रो रहे हों। स्त्रियाँ जब बालों को सँवार लेती है तब उन्हें पीछे करके

---

1. गाथा0 6/55

चोटी के रूप में बाँध देती है। सद्य: स्नाता नायिका के बाल इस लिए रो रहे हैं कि बन्धन के बाद उन्हें स्तन के स्पर्श का सुख नहीं मिलेगा। धन्य है गाथाकर की यह कल्पना।

आर्यासप्तशतीकार ने भी युवतियों के केशकलाप का गाथा की ही भाँति विम्बन किया है जो इस आर्या में द्रष्टव्य है -

बन्धनभाजोऽमुष्याश्चिकुरकलापस्य मुक्तमानस्य ।
सिन्दूरितसीमन्तच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ।।[1]

प्रसंग इस प्रकार है- नायिका ने अपने बालों को सवाँर लिया है। बालों को सवाँरते समय स्त्रियाँ उसे दो भाग में करके बीच में माँग निकालती हैं। सधवा स्त्री अपनी माँग में सिन्दूर देती है अतएव उसकी माँग लाल वर्ण की दिखाई पड़ रही है। कवि इसपर उत्प्रेक्षा करता है कि मानो अत्यन्त दीर्घ बन्धन के कारण केशकलाप का हृदय सिन्दूरयुक्त शिर की माँग के बहाने फट गया हो। चूँकि शिर फटने के बाद रक्त का दिखना स्वाभाविक है अत: कवि ने सिन्दूरयुक्त माँग की बात कही है। सिन्दूर का भी रंग रक्त की तरह होता है। अत: यहाँ कवि अपनी कल्पना में पूर्ण सफल रहा है।

गाथा और आर्या के इस वर्णन में केवल श्रृङ्गारिकता का अन्तर है। गाथाओं में चूँकि केश स्तनस्पर्श का सुख न पाने के कारण रो रहे हैं अत: यहाँ पर श्रृंगारिक भावना है। इसके विपरीत आर्या में श्रृंगारिकता का लोप है। दोनों कल्पनाएँ उदात्त हैं।

---

1. आर्या 0 404

मानिनी नायिका नायक के व्यवहार से खिन्न होकर अपने हृदय के बहाने नायक को उपालम्भ देती है- इस प्रसंग को गाथा इस प्रकार कहती है-

उज्झसि उज्झसु कट्टसि कट्टसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिम सो हु मए गलिअसब्भावो ।।[1]

हे हृदय ! यदि तुम जलते हो तो जलो, पचते हो तो पच और यदि विदीर्ण होते हो तो हो जा, किन्तु मैंने तो इस निगोड़े प्रेम को समाप्त ही कर दिया है।

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ यह है कि जिस स्वच्छन्द आचरण वाले पति के कारण नायिका अपने हृदय को दुःखित कर रही है कि वह अपनी गलतियों से बाज आये किन्तु वह उसके प्रति विपरीत आचरण ही करता है। यद्यपि नायिका प्रेम का निषेध कर रही है फिर भी वह केवल निषेधाभासमात्र ही है।"

बज्जालग्गं में भी नायिका हृदय के बहाने अपने प्रिय को उपालम्भ देती है-

उज्झसि उज्झसु कड्ढसि कड्ढसु अह फुडसि हियय ता फुडसु ।
जेण पुणो न कयाइ य अन्नासत्ते मई कुणसि ।।[2]

हे हृदय ! जलते हो तो जलो, खौलते हो तो खौलो, टूटते हो तो टूट जाओ। जिससे पुनः कभी अन्य से प्रेम करने वाले की कामना न करो।

- -

1. गाथा05/1

2. वज्जालग्गं - 454

यहाँ पर भी वही बात कही गयी है जिसे गाथा ने कहा है। वज्जालग्गं की यह गाथा गाथासप्तशती के पूर्वोक्त गाथा की बिल्कुल नकल प्रतीत होती है।

आर्यासप्तशती गाथा० तथा वज्जालग्गं का ही अनुकरण करते हुए हृदय के बहाने नायक को उलाहना दे रही है-

प्रियदुर्नयेन हृदय स्फुटसि यदि स्फुटनमपि तव श्लाघ्यम् ।

तत्केलिसमरतल्पीकृतस्य वसनान्चलस्येव ॥[1]

हे हृदय ! प्रिय की दुर्नीति से यदि फट जाते हो तो तुम्हारा फटना भी, उसके केलिसंग्राम में बिछौना बनाये गये वस्त्रान्चल के फटने के समान प्रशंसनीय है।

प्राय: इसप्रकार के उपालम्भ लोक में आज भी स्त्रियों द्वारा पुरुषों को दिये जाते हैं।

इस प्रकार पूर्व विवेचना के आधार पर यह बात पुष्ट हो जाती है कि गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती अपने पूर्ववर्ती काव्य गाथासप्तशती तथा वज्जालग्गं से पूर्णत: प्रभावित हुई है। जैसा कि हमने इसकी पुष्टि में समान भावों से ओत प्रोत अनेक गाथाओं तथा आर्याओं को उद्धृत किया है। इन ग्रन्थों ने मुक्तक काव्य परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है। मुक्तक काव्यों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यौवन की उद्दाम वासनाओं, काम-क्रीडाओं एवं

- -

1. आ० स० 377

हँसते-खेलते अठखेलियाँ करते जीवन के सुखमय पक्ष का उद्घाटन करना ही रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थों में मुक्तक काव्य के इसी वैशिष्ट्य की विवेचना की गयी है। इन कवियों ने हँसते हुए जीवन की हिमायत की है। इन्होंने संयोग श्रृंगार का ही चित्रण प्रमुख समझा, विप्रलम्भ श्रृंगार के चित्रण इन कवियों का मन बहुत ही कम रमा है। यद्यपि काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त है कि- "न बिना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।" अर्थात् बिना वियोग के संयोग श्रृंगार निखर ही नहीं पाता, फिर भी इन ग्रन्थों में विप्रलम्भ की इतनी कमी नहीं है कि संयोग श्रृंगार निरस हो जाय। वियोग श्रृंगार का जो वर्णन हुआ भी है वह संभोग के पक्ष को और आकर्षक बनाने के लिए। इसप्रकार इनग्रन्थों में संभोग श्रृंगार की पराकाष्ठा को हम गाथा० तथा आर्या० के एक प्रसङ्ग से स्पष्ट कर सकते हैं। इसकी पुष्टि में प्रस्तुत है एक श्रृंगार से ओतप्रोत गाथा -

अच्छेरे व णिहिं विअ सग्गे रज्जं अमअपाणं व ।
आसी म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ।।[1]

§ आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव ।
आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ।।§

---

1. गाथा० 2/25

कोई रसिक ग्राम्य-सुन्दरी के स्नान के समय अनावृत अंगों के सौन्दर्य का पान करता हुआ कहता है- क्षण भर के लिए उस सुन्दरी का अनावृत अंगदर्शन हमारे लिए आश्चर्य के समान, निधि के समान, स्वर्ग के राज्य के समान तथा 'अमृतपान के समान लग रहा था।

इस प्रकार यहाँ पर रसिक को सुन्दरी के अनावृत अंगों के दर्शन से समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ धन्य है श्रृंगार का औचित्य परिपालन ।

गोवर्धनाचार्य तो नग्नश्रृंगार के वर्णन से तृप्त ही नहीं होते हैं, यही कारण है कि उन्होंने इस चित्र की झाँकी अनेकशः चित्रित की है। आचार्य प्रवर के इसी प्रसंग के

- -

1• §1§ अम्बरमध्यनिविष्टं तवेदमतिचपलमलघु जघनतटम् ।
चातक इव नवमर्भ निरीक्षमाणो न तृप्यामि ।।
- आर्या0

§2§ निर्भरमपि संभुक्तं दृष्ट्या प्रातः पिबन्न' तृप्यामि ।
जघनमनंशुकमस्याः कोक इवाशिशिरकरबिम्बम् ।।
- आर्या0 319

§3§ श्लिष्यन्निव चुम्बनमिव पश्यन्निव चोल्लिखन्निवातृप्तः ।
दधदिव हृदयस्यान्तः स्मरामि तस्या मुहुर्जघनम् ।
- आर्या0 569

§4§ ईर्ष्यारोषज्वलितो निजपतिसंग विचिन्तयंस्तस्याः ।
च्युतवसनजघनभावनसान्द्रानन्देन निर्वामि ।। - आर्या0 ।।4

चित्रण को देखकर स्वयं को ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्रृंगार रसराज के रूप में इस ग्रंथ में अवतरित हो गया हो। गाथा0 और आर्यासप्तशती के श्रृंगारिक वर्णनों में काफी अन्तर है। गाथा0 में चूँकि ग्राम्य-जीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ है अतः वहाँ के श्रृंगार में कृत्रिमता को कोई स्थान ही नहीं मिला है। वैसे भी गिरिग्राम के कवियों को श्रृंगारिक अठखेलियों का पूर्ण माहौल प्राप्त था। गिरिग्राम में ही गाथा के कवियों ने अलग-अलग मुक्तकों को लिखा जिसे बाद में हाल ने गाहासत्तसई के रूप में निबद्ध किया। गिरिग्राम के पुरुषों एवं सुन्दरियों को काम की पूर्ण छूट थी,[1] अतः उनकी कामक्रीडाओं में स्वाभाविकता थी। वैसे भी यह गिरिग्राम प्राकृतिक-सुषमा से अत्यन्त शोभायमान था।[2] प्रकृति के विभिन्न

---

1. धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि ।
   वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे ।।
   § धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्रलवतौ ।
   वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ।। §

   - गाथा0 7/35

2. पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअलामुइअमोरा ।
   पसरन्तोज्झरमुला ओसाहन्ते गिरिग्गामा ।।

   - गाथा0 7/36

अवयव यथा कदम्ब वृक्ष, शिलातल, सहेर, प्रसन्न मोरों से युक्त बाग-बगीचे तथा झरने आदि उद्दीप्पन का काम करते हैं। श्रृंगार-रस के उद्दीपन के ये सभी अवयव उस गिरिग्राम में मौजूद थे तभी तो वहाँ निःशङ्क सुरत का पूर्ण वातावरण विद्यमान था। इसके विपरीत आर्यासप्तशती में तो जिस नगरी सभ्यता का वर्णन हुआ है उसमें श्रृंगारिक वातावरण का नितान्त अभाव खटकता है। नागर-जीवन में श्रृंगार का वह चित्रण नहीं किया जा सकता । लगता है इसी कारण आचार्य गोवर्धन ने शहर के साथ ही साथ ग्रामीण युवाओं एवं सुन्दरियों का भी प्रकृत चित्रण अनिवार्य समझा। शहर में गाँवों की प्राकृतिक छटा तो मिलती नहीं अतः आर्यासप्तशती में कवि ने कल्पना की उड़ानों को पर्याप्त महत्त्व दिया है। यही कारण है कि आचार्य कहीं - कहीं श्रृंगार को मर्यादा की चाहारदीवारी से पार कर देता है।उन्हें सुन्दरी के जघनदर्शन की पिपासा बार-बार व्याकुल करती रहती है अतएव कभी तृप्त नहीं होते। इस प्रसंग को हमने श्रृङ्गार की पराकाष्ठा के रूप में वर्णित कर दिया है। ऐसा लगता है कि गोवर्धनाचार्य के इसी वैशिष्ट्य के कारण संस्कृत के समीक्षकों ने उन्हें-"श्रृंगारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धीकोऽपि न विश्रुतः।" इस रूप में आदृत किया है।

यद्यपि "आर्यासप्तशती" पर "गाहासत्तसई" का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि कुछ माने में "आर्यासप्तशती"गाहा० से भिन्न है। चूँकि आर्यासप्तशती बाद की रचना है अतः उसमें कहीं-कहीं भावों के विवेचन में परिष्कार दिखाई पड़ता है। जहाँ गाहासत्तसई में ग्राम्य-जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियों का ही चित्रण प्रमुख रहा है वही आर्या-सप्तशती में नागरिक जीवन का चित्रण प्रमुख रहा है। गाहासत्तसई में लोक-जीवन बड़ा

स्वाभाविक चित्रण हुआ है इसके विपरीत आर्यासप्तशती में लोक-जीवन का अभाव है। कहीं-कहीं यदि कवि लोक-जीवन का चित्रण किया भी है तो उसमें गाहा० जैसी स्वाभाविकता नहीं दिखाई देती यथा-"हालिकवधू" के साथ देवर की रतिक्रीडा का प्रसंग।[1] यहाँ पर कवि ग्राम्य - जीवन का वर्णन किया है किन्तु यहाँ पर गाहा० के हलिकवधू एवं देवर के सम्बन्धों[2] जैसी सहजता तथा स्वाभाविकता का अभाव खटकता है। आर्यासप्तशती में देवर-भाभी रति करने के पश्चात् हँसते हुए दिखाई पड़ते हैं, जबकि गाहा० में "भौजी" अपने देवर की करतूत पर प्रायश्चित्त करती है। कहना न होगा कि कोई भाभी ऐसी नहीं होगी जो देवर के साथ रति करके हँसी उड़ाये। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति में गोवर्धन गाहा० से पीछे हो जाते हैं। गाहा० में सम्बोधन के रूप में शुद्ध ग्राम के शब्दों यथा-बुआ, मामी, मौसी, सास, भौजी, सखी, हलिक वधू, पल्लीपति, आदि का प्रयोग हुआ है जबकि आर्या० में कहीं-कहीं हलिक वधू तथा सखी का वर्णन हुआ है किन्तु बुआ, मामी, मौसी एवं भौजी आदि का नहीं। यहाँ पर नायक-नायिका दूती, सखी आदि को सम्बोधित करके वर्णन किया गया है। मूलतः गाहा० तथा आर्या० में जो अन्तर है वह "लोक-जीवन" के वर्णन से ही है। स्पष्ट है कि आर्या० नागर जीवन की हिमायती होने से लोक-जीवन से वंचित रह जाती है।

- -

1. दलिते पलालपुन्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते ।
निभृतनिभालितवदनौ हलिकवधूदेवरौ हसतः ॥
आ० स० 302

2. दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं ।
दिअहं कहेइ रामाणलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥
- गाहा० 1/35

निष्कर्ष रूप से गोवर्धनाचार्य ने सच्चाई के साथ प्राकृत के महत्त्व को स्वीकार करके संस्कृत के समस्त शृंगारी मुक्तकों को प्राकृत के अक्षय भण्डार का ऋणी घोषित कर दिया है। इस कथन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत का मुक्तक-साहित्य प्राकृत से प्रेरित होकर भी उसकी सरसता एवं सहजता नहीं पा सका है।

0 0 0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0
0

काव्य रचना का अर्थ श्रृंगारिक वस्तु दर्शन और मन के भाव व्यापारों का निदर्शन, प्रायः विश्व के सभी कवियों का रहा है । जिन्होंने इस भावधारा को अतिक्रान्त कर जाति,समाज,और राष्ट्र को अभिव्यक्त करने वाले विशालकाय रामायण एवं महाभारत जैसे प्रबन्धों की रचना की वे केवल कवि नहीं वे कवि एवं समाज के विधाता दोनों हैं । तमिल काव्य परम्परा में उनके"तोलकाप्पियम्" काव्यशास्त्र में"अहं" को काव्य रचना का मूल माना गया है और यही बात राजा भोज ने भी अपने"श्रृंगार प्रकाश" में कही है । इस"अहं" का अर्थ श्रृंगार भाव में प्रतिबिम्बित होने वाला मन है । एक साधारण वाक्य में यदि हम कहना चाहें तो यह कहेंगे कि श्रृंगार भावों में डूबे हुए मन के विविध व्यापार दर्शन और उनकी अभिव्यक्ति ही काव्य रचना है । और ऐसे काव्य सदा ही मुक्तक के रूप में लिखे गये हैं । मुक्तक काव्य की परम्परा ईसवी सन् से पूर्व की रही है। वात्स्यायन के"काम सूत्र" में सरस्वती समाज का वर्णन है । इसमें ऐसे ही श्रृंगार भाव के मुक्तक सुनाये जाते थे । दण्डी में " विदग्ध गोष्ठी " का उल्लेख किया है; इसमें भीश्रृंगारिक मुक्तक सुनाये जाते थे । इसके बाद कवि राज सभाओं में बैठने लगे । राजा भी ऐसे श्रृंगारिक मुक्तकों को सुनना पसन्द करते थे । सामान्य रूप से साधारण समाज से लेकर बौद्धिक मनीषी तथा राजा सभी के लिए ऐसी श्रृंगारिक उक्तियां सुनने समझने में प्रिय लगती थीं । हजारों उक्तियां ऐसी लिखी गयी होंगी । केवल संस्कृत में ही नहीं अपितु प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी । पर शेष वही रही जिन्हें राजाश्रय प्राप्त था तथा जिनकी पाण्डु लिपियां राजा के

पुस्तकालयों में सुरक्षित रहीं हैं । अमरूक एवं गोवर्धनाचार्य दोनों दरबारी कवि थे। गाहा सत्सयी का संकलन सातवाहन राजा ने किया था । ध्यातव्य है कि तीनों ग्रन्थों में कम से कम 600 एवं 500 वर्षों का अन्तराल है अर्थात् 1100 वर्षों तक यह श्रृंगारिक मुक्तक परम्परा चलती रही ।

गोवर्धनाचार्य के समय श्रृंगार के इन मुक्तकों की रचना राजसभाओं में सीमित हो गयी थी । साधारण भारतीय समाज में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति हो रही थी और संस्कृत से अतिरिक्त जनभाषाओं में ऐसी क्रान्ति को अभिव्यक्त करने वाले मुक्तक काव्य लिखे जा रहे थे । सरहपाद का " दोहा कोश " इसी में लिखा गया था जिसमें ब्राह्मणों का एवं शास्त्रों की निन्दा की गयी है । ऐसे और भी कई काव्य हैं जो अपभ्रंश में है संस्कृत में नहीं । कहने का अर्थ यह है कि संस्कृत और उसके श्रृंगारिक मुक्तकों की परम्परा जिस परम्परा में "आर्यासप्तशती" की रचना हुई । अब राज सभाओं की तलहटी में सिमट कर सूख रही थी । इसीलिए आर्यासप्तशती में काव्य प्रतिभा एवं विषय वैविध्य होते हुए भी श्रृंगारिक जीवन का वह अन्तः उल्लास जगमगाता नहीं दीख पड़ता जो गाहासप्तशयी एवं "अमरूकशतक" में है । कवि अलंकारिक कल्पनाओं द्वारा रसाभिव्यक्ति की चेष्टा में में अधिक तत्पर दिखायी पड़ता है । उसके मुक्तकों में उस वस्तु दर्शन का अभाव है जो "गाहासप्तशयी" की गाथाओं में प्राप्त होता है । गाहासप्तशयी की एक गाथा अपनी उक्ति में कथावस्तु का एक लम्बा प्रकरण आत्मसात् किये रहती है । जिसके सम्यक प्रबोध के बिना उस गाहा का आनन्द नहीं लिया जा सकता ।

ऐसे हृदय को छूने वाले सन्दर्भ"आर्यासप्तशती" की आर्याओं में नहीं पाये जाते ।

हमें सप्तशती की संख्या पर विचार करना चाहिए । 700 की संख्या की मूल उद्भावना कवियों में कहां से आयी ? वस्तुतः भारतीय जनगणना में 10 का महत्व है अर्थात् 1000 संख्या हो या 500 हो या 100 हो; यह 700 की संख्या कहां से आयी? गीता के 700 श्लोक एव"दुर्गाशप्तशती " के 700 मन्त्र होने के पीछे जो गणितीय विचारधारा है उसी का सम्बन्ध"गाहासप्तशयी"से है। और गाहासप्तशयी का अनुकरण"आर्यासप्तशती"में है । बात 7 की संख्या के महत्व की है"दुर्गासप्तशती" में तो 700 मन्त्र कल्पित किये गये हैं । वहां 700 श्लोक हैं भी नही । इसका सही इतिहास हमारे सामने अभी ज्ञात नहीं है ।

"आर्यासप्तशती" अपने युक्ति अभिजात्य वर्ग के जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है । सामान्य जीवन के चित्र उसमें कम हैं । अर्थ और भाव का अनेक वैविध्य होते हुए भी उसका क्षेत्र परिसीमित ही है । पर इतने पर भी यह काव्य चमत्कार जनक है और हृदय को आनन्दित करता है । यह गोवर्धनाचार्य की कवि-प्रतिभा का वैशिष्ट्य है ।

अनुशीलित सहायक ग्रन्थ-सूची"

क्र0सं0	ग्रन्थ-नाम	रचनाकार/सम्पादक	प्रकाशन/संस्करण
1.	अग्निपुराण		
2.	अमरूशतकम् (रसिकसंञ्जीवनी) टीका	अमरूक (श्रीअर्जुनवर्मदेव)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी-1, 1966
3.	श्रृंगार-दीपिका	श्री प्रेमभूपाल	
4.	"कामदा" टीका	श्री ज्ञानानन्द रविचन्द	
5.	अमरूक शतक लीला	कलाधर श्री वाक्कन्वे	
6.	अमरूशतकम्	डा0 विद्यानिवास मिश्र	
7.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	महाकवि कालिदास	
8.	आर्यासप्तशती (सचल मिश्र की "रसप्रदीपिका" टीका सहित)	गोवर्धनाचार्य (सं0 के0शी0 शर्मा)	विद्यापति प्रेस लहरिया सराय, 1931.
9.	काव्य संग्रह (प्रथम भाग)	श्री जीवानन्द विद्यासागर	सरस्वती प्रेस कलकत्ता 1888
10.	आर्यासप्तशती (व्यंग्यार्थ दीपना" नाम्नी संस्कृत टीका)	अनन्त पण्डित	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1934

11.	आर्यासप्तशती §विमा हिन्दी टीका§	पं0रमाकान्त त्रिपाठी	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी -1, 1965
12.	आर्यासप्तशती	आचार्य विश्वेश्वर	
13.	अलंकार कौस्तुभ	कविकर्णपूर §सं0शिवप्रसाद भट्टाचार्य§	
14.	अलंकार शेखर	केशव मिश्र	निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1926, द्वितीय संस्करण
15.	काव्य मीमांसा	राजशेखर§सं0सी0डी0 दलाल और पं0आर0 एम0 शास्त्री§	ओरिएण्टल सीरीज-। इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा-1934
16.	काव्यप्रकाश: §बालबोधिनी टीका समन्वित§	श्री मम्मटाचार्य §व्ख्याता वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर§	भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीयूट, पूना 1965
17.	काव्य प्रकाश: §शशिकला हिन्दीटीका§	व्याख्याकार डॉ0 सत्यव्रत सिंह	चौ0वि0भवन, वाराणसी
18.	काव्यप्रकाश: §"प्रभ"टीका§	व्याख्याकार श्रीनिवास शास्त्री	साहित्य भण्डार मेरठ
19.	काव्यादर्श	दण्डी§सं0एस0विश्वनाथन्§	श्री बालमनोरमा प्रेस मद्रास, 1963
20.	काव्यशास्त्र	डॉ0 भगीरथ मिश्र	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी - 1972
21.	काव्यानुशासन	वाग्भट्, काव्यमाला-43	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1915

22•	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र,काव्यमाला-70	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1934
23•	काव्यालंकार	भामह,भा0देवेन्द्रनाथशर्मा	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना,1962
24•	काव्यालंकार	रुद्रट॥नमिसाधुकृत टिप्पणी॥ काव्यमाला-2 तृतीयावृत्ति	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1928
25•	काव्यालंकार संग्रह	उद्भट॥प्रतिहारेन्दुराजविरचित लघुवृत्ति॥सं0मंगेश रामकृष्ण तेलंग- द्वितीया वृत्ति	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1928
26•	कामसूत्र	वात्स्यायन॥सं0देवदत्तशास्त्री॥	चौ0संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी1964
27•	गाथासप्तशती	डॉ0 जगन्नाथ पाठक	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-1969
28•	गीतगोविन्द	सम्पादिका डॉ॥श्रीमती॥ कपिला वात्स्यायन	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
29•	दशरूपक	धनंजय॥धनिक कृत"अवलोक"॥	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1941,पंचम संस्करण
30•	दशरूपक	सं0 रमाशंकर त्रिपाठी	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी,1973,प्रथम संस्करण
31•	ध्वन्यालोक ॥लोचन सहित॥	आनन्दवर्धन॥व्या0राम सागर त्रिपाठी॥	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी-1963,प्रथम संस्करण

32.	ध्वन्यालोक (दीधिति सहित)	शोभित मिश्र	चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस-1, 1963, द्वितीय संस्करण
33.	चन्द्रालोक	पद्मनाभ मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
34.	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि (सं0श्रीबाबू-लाल शुक्ल)	चौखम्बा प्रकाशन, बनारस
35	नाट्यदर्पण	सं0पं0केदारनाथ काव्यमाला 42	निर्णयसागर प्रेस बंबई 1943, द्वितीय संस्करण
36.	नाट्यदर्पण	सं0 बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी 1929
37.	प्राचीनभारतीय संस्कृति कला और दर्शन	एम0पी0श्रीवास्तव	एशिया प्रकाशन इलाहबाद 1979
38.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डॉ0 रामदत्त उपाध्याय	देवभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
39.	प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक भूमिका	डॉ0 रतिभानुसिंह	किताब महल इलाहाबाद 1979
40.	भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास	श्री नेत्र पाण्डेय	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
41.	रसगंगाधर	जगन्नाथ (नागेशभट्टविरचितगुरुमर्म प्रकाशक) काव्यमाला	निर्णयसागर प्रेस बंबई 1939
42.	रस-सिद्धान्त	डॉ0 नगेन्द्र	नेशनल पब्लिकेशन हाउस, चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली
43.	रसप्रदीप	प्रभाकरभट्ट (सं0नारायण शास्त्री)	गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी बनारस, 1925

44.	रस विलास	भूदेव शुक्ल (सं0 प्रेमलताशर्मा)	पूना ओरिएण्टल बुक-हाउस, पूना-1952
45.	रसरत्नप्रदीपिका	अल्लराज (सं0 आर0 एन0 दाण्डेकर)	भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1945
46.	रसगंगाधर	व्याख्याता मधुसूदनशास्त्री	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अनुसन्धान समिति
47.	राजतरंगिणी	कल्हण (सं0 पं0 दुर्गाप्रसाद)	निर्णयसागर प्रेस, 1892
48.	व्यक्ति विवेक	महिमभट्ट सं0 टी0 गणपति शास्त्रि	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज-5 त्रिवेन्द्रम, 1909
49.	वज्जालग्गं	जयवल्लभ सं0 डॉ0 सागरमल जैन अनुवादक-विश्वनाथ पाठक	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी-5, 1904
50.	वक्रोक्ति जीवित	सं0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, 1955
51.	सरस्वती कण्ठाभरण	सं0 आनन्द राम बस्आ	पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी-1927
52.	सरस्वती कण्ठाभरण	भोज (सं0 डॉ0 कामेश्वरनाथ मिश्र)	चौखम्भा ओरिएण्टल, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1976
53.	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ (सं0 कृष्णमोहन शास्त्री)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1967
54.	श्रृंगार प्रकाश	भोज (सं0 मो0 मट रामाउज ज्योतिषिक)	कारोनेशन प्रेस मैसूर

55·	'श्रृंगार रसिक	रूद्रभट्ट-काव्यमाला गुच्छक	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1899
56·	'श्रृंगार शतक	'भर्तृहरि	
57·	सौन्दर्य लहरी	शंकराचार्य	गणेश एण्ड कम्पनी (मद्रास) प्रा0लि0मद्रास, 1957
58·	संस्कृत कविता में रोमाण्टिक'प्रवृत्ति	डॉ0 हरिदत्त शर्मा	लीलाकमल प्रकाशन साकेत मेरठ
59·	संस्कृत साहित्य का इतिहास	पं0 बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर वाराणसी
60·	संस्कृत साहित्य का इतिहास	डॉ0 मंगलदेव शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1969
61·	संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1973
62·	संस्कृत साहित्य चिन्तन	डॉ0प्रभुदयाल अग्निहोत्री	अनादि प्रकाशन, इलाहबाद 1973
63·	संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास	डॉ0 सूर्यकान्त	ओरिएण्टल लॉंगमेन लिमिटेड, नई दिल्ली-1972
64·	संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ0 रामजी उपाध्याय	रामानारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद
65·	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास	डॉ कपिलदेव द्विवेदी	साहित्य संस्थान, इलाहाबाद
66·	संस्कृत समीक्षा की रूपरेखा	प्रतापनारायण टण्डन	सोमैया पब्लिकेशन्स, प्रा0लि0 नई दिल्ली-1972

67.	संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ0 सत्यनारायण	साहित्य भण्डार मेरठ-1975
68.	संस्कृत कवि दर्शन	डॉ0भोलाशंकर व्यास	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, 1968, तृतीय संस्करण।
69.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	डॉ0दयाशंकरशास्त्री	भारतीय प्रकाशन चौक, कानपुर
70.	संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ0रामदत्त शर्मा	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ; तृतीय संस्करण
71.	साहित्य शास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन	श्री मधुसूदन शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-1, प्रथम संस्करण
72.	आधुनिक संस्कृत साहित्य	डॉ0 हीरालाल शुक्ल	रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, प्रथम संस्करण
73.	हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर	एम0कृष्णमाचारी	मोतीलाल बनारसीदास, 1970, प्रथम संस्करण
74.	हिस्ट्री ऑव म्यूड्वल हिन्दू इण्डिया	सी0वी0वैद्य	कास्मो पब्लिकेशन्स न्यू डेलही, 1970
75.	हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स	डॉ पी0बी0काणे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1961
76.	संस्कृत काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन	
77.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	
78.	मेघदूतम्	कालिदास	
79.	कादम्बरी	बाणभट्ट	

कोश ग्रन्थ

अमरकोश	श्री शिवदत्त कोविद	निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1929
हलायुध कोश	जयशंकर जोशी	हिन्दी समिति उ0प्र0लखनऊ 1964
संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, 1977
शब्दकल्पद्रुम कोश	केशव	

पत्रिका

1. जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद
2. सरस्वती सुषमा, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका
3. सारस्वत सन्दर्शनम्
4. संस्कृत एण्ड इण्डोलाजिकल स्टडीज- डॉ0 वी0 राघवन् अभिनन्दन ग्रन्थ मोतीलाल बनारसीदास
5. कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ – अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ

0 0 0 0 0
0 0 0
0